तिपिटक में
सम्यक संबुद्ध
भाग-५
विपश्यना विशोधन विन्यास

विषय-सूची

सुत्तन्तेसु असन्तेसु, पमुट्ठे विनयम्हि च।
तमो भविस्सति लोके, सूरिये अत्थङ्गते यथा॥
(अ० नि० अट्ठ० १.१.१३०, दुतियपमादादिवग्गवण्णना)

– धर्मसूत्र विद्यमान न रहने पर और धर्मपालन विस्मृत हो जाने पर संसार में सूर्यास्त सदृश अंधकार छा जाता है।

सुत्तन्ते रक्खिते सन्ते, पटिपत्ति होति रक्खिता।
पटिपत्तियं ठितो धीरो, योगक्खेमा न धंसति॥
(अ० नि० अट्ठ० १.१.१३०, दुतियपमादादिवग्गवण्णना)

– धर्मसूत्र सुरक्षित रहने पर प्रतिपत्ति यानी साधना का प्रतिपादन सुरक्षित रहता है। प्रतिपादन में लगा हुआ धीर व्यक्ति योगक्षेम से वंचित नहीं होता है।

भूमिका

"तिपिटक में सम्यक सम्बुद्ध", "तिपिटक में सद्धर्म" और "तिपिटक में आर्यसंघ" वस्तुतः तिपिटक की भूमिकाएं ही हैं। लंबी भूमिकाएं हैं जिन्हें पाठकों की सुविधा के लिए दो-दो भागों में प्रकाशित किया जा रहा है। इनके लिए एक छोटी-सी भूमिका और लिखनी आवश्यक समझी गयी। इसी के परिणामस्वरूप ये चंद शब्द हैं।

लगभग चालीस वर्ष पूर्व सितंबर, १९५५ में जब मैंने पहली बार परम पूज्य गुरुदेव सयाजी ऊ बा खिन के चरणों में बैठ कर विपश्यना के शिविर में भाग लिया तब यह देख कर सुखद आश्चर्य से अभिभूत हो उठा कि भगवान बुद्ध का यह प्रयोगात्मक प्रशिक्षण कितना निर्मल है, निर्दोष है! कितना निश्छल है, निष्कलंक है! कितना सार्वजनीन है, सार्वभौमिक है! कितना सार्वकालिक है, सनातन है और कितना वैज्ञानिक तथा आशुफलदायी है!

बचपन से यही सुनता और मानता आया था कि भगवान बुद्ध ईश्वर के नौवें अवतार हैं। इसलिए हमारे लिए पूज्य हैं, अतः भगवान बुद्ध के प्रति सहज श्रद्धा थी। घर के बड़े बुजुर्गों के साथ मांडले (बर्मा) में भगवान बुद्ध के महामुनि मंदिर में जाकर उनकी प्रतिमा के शांत, सौम्य, स्निग्ध चेहरे का दर्शन कर, सादर नमन करना तथा अत्यंत भक्तिभाव से फूल चढ़ाना और दीप जलाना बहुत प्रिय लगता था। परंतु साथ-साथ बचपन में ही मानस पर यह भी एक लेप लगा दिया गया था कि भगवान बुद्ध परम पूज्य और प्रणम्य हैं तो भी उनकी शिक्षा हमारे लिए ग्राह्य नहीं है। यह मान्यता कितनी मिथ्या साबित हुई।

अवश्य ही किसी पुराने पुण्य का फलोदय हुआ जिसके कारण ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हुई कि दस दिन के लिए मां विपश्यना की सुखद गोद में जा बैठा। काम, क्रोध और अहंकार के अंतस्ताप से सतत तापित, संतापित रहने वाले मानस को दस दिनों में ही जो शांति प्राप्त हुई, उससे हर्ष-विभोर हो उठा। शिविर में सम्मिलित होने के पूर्व परम पूज्य गुरुदेव ने विपश्यना

विद्या की जो रूपरेखा समझायी, वह बड़ी निर्दोष लगी। फिर भी बचपन से लगे हुए पुराने लेपों के कारण मन में कुछ झिझक थी ही। परंतु दस दिन पूरे होने पर यह देख कर मन बड़ा प्रसन्न, संतुष्ट हुआ कि इस मार्ग में कहीं कोई दोष है ही नहीं। विपश्यना का सारा पथ सर्वथा निष्कलुष और निर्दोष है। अतः गृहस्थ हों या संन्यासी सबके लिए सर्वथा ग्राह्य है, उपयोगी है।

भगवान बुद्ध की ऐसी निर्दोष शिक्षा के प्रति मन में जो अनेक मिथ्या भ्रांतियां थीं, उनका निराकरण हुआ। आखिर शील-सदाचार का जीवन जीने में क्या दोष है भला! सहज स्वाभाविक सांस के आवागमन के प्रति सजग रहते हुए चित्त को एकाग्र कर समाधिस्थ हो जाने में क्या दोष है भला! शरीर और चित्त के पारस्परिक प्रभाव-क्षेत्र का यथाभूत दर्शन करते हुए अंतर्मन की गहराइयों में विकारों के तथा तज्जन्य व्याकुलता के प्रजनन और संवर्धन का निरीक्षण करते हुए इस प्रपंच के प्रति अनित्यबोधिनी प्रज्ञा जगा लेने में क्या दोष है भला! इस अनुभवजन्य प्रज्ञा के आधार पर समता में स्थित होकर मन को विकार-विमुक्त बना लेने में तथा यों निर्मलचित्त हुए साधक द्वारा इंद्रियातीत नित्य, शाश्वत, ध्रुव अवस्था का साक्षात्कार कर सकने की क्षमता प्राप्त कर लेने में क्या दोष है भला! इस निर्दोष पथ पर उठाया हुआ हर कदम कल्याणकारी है।

एक धर्मभीरु परिवार में जन्मा और पला, इस कारण खूब समझता था कि शील-सदाचार का पालन अवश्य करना चाहिए। इसके लिए आवश्यक मनोबल बढ़ाने की विधि इस शिविर में सीखी। चित्त की एकाग्रता और विकार-विमुक्ति का लक्ष्य तो पहले भी था पर इसे पूरा कर सकने का सहज सरल मार्ग इस विधि ने प्रशस्त किया। प्रज्ञा के बारे में बहुत पढ़ा था, बहुत चिंतन-मनन भी किया था परंतु इससे जो लाभ मिलना चाहिए, उससे वंचित था। प्रज्ञा का सही अर्थ ही नहीं समझ पाया था तो लाभ मिलता भी कैसे? अब तक तो परोक्ष ज्ञान को ही प्रज्ञा समझ रहा था। सुना-सुनाया, पढ़ा-पढ़ाया ज्ञान वस्तुतः श्रुत-ज्ञान होता है, जिसे श्रद्धा द्वारा स्वीकार किया जा सकता है। चिंतन-मनन करके उसे युक्ति-युक्त मान लें तो वही चिंतन-ज्ञान हो जाता है। पर ये दोनो ही परोक्ष ज्ञान हैं, पराये ज्ञान हैं।

स्वानुभूति के स्तर पर प्रत्यक्ष ज्ञान हो तो ही प्रज्ञान है। यही प्रज्ञा है। विपश्यना द्वारा इसी प्रत्यक्ष ज्ञान का अभ्यास किया। इस अभ्यास की निरंतरता कैसे बनाये रखें, यह भी सीखा। इस निरंतरता में पुष्ट होना ही प्रज्ञा में स्थित होना है, यह भी खूब समझ में आया। तब ऐसे लगा कि जिस स्थितप्रज्ञता को अपने जीवन का आदर्श मान रखा था, वह तो केवल एक सैद्धांतिक बात थी। बहुत हुआ तो उस पर चिंतन-मनन कर लिया। परंतु वह भी मात्र बौद्धिक प्रक्रिया ही हुई। विपश्यना ने प्रज्ञा के व्यावहारिक पक्ष का प्रयोगात्मक मार्ग प्रशस्त किया। प्रज्ञा के बल पर वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह, वीतभय होने के व्यावहारिक पक्ष का प्रयोगात्मक मार्ग प्रशस्त किया। विपश्यना कोरा उपदेश नहीं है, कोरा चिंतन-मनन नहीं है, बल्कि मनोविकारों को जड़ से उखाड़ देने की व्यावहारिक प्रक्रिया है, इसका स्पष्ट अनुभव हुआ।

पहले ही शिविर में शील, समाधि और प्रज्ञा के विशुद्ध सुधारस का जो यत्किंचित स्वाद चखा और उससे जो आंतरिक प्रश्रब्धि और प्रशांति की अनुभूति हुई उससे मन में एक धर्म-संवेग जागा कि चित्त विशुद्धि की इस कल्याणी साधना के अभ्यास को पुष्ट करते हुए, इसके सैद्धांतिक पक्ष से भी अवगत होना चाहिए। अतः बुद्ध-वाणी पढ़ने का निश्चय किया। परंतु वह लगभग पंद्रह हजार पृष्ठों के विशाल साहित्य में निहित थी, सो भी पालिभाषा में, जिसका मुझे रंचमात्र भी ज्ञान नहीं था। सौभाग्य से महापंडित राहुल सांकृत्यायनजी, भिक्षु आनंद कौसल्यायनजी, भिक्षु जगदीश काश्यपजी, भिक्षु धर्मरत्नजी तथा भिक्षु धर्मरक्षितजी ने बुद्ध-वाणी के कुछ ग्रंथों के हिंदी अनुवाद कर दिये थे। उन्हें भारत से मँगा कर पढ़ना आरंभ किया। पढ़ते हुए बड़ा आह्लाद होता था, विपश्यना साधना को बड़ा बल मिलता था।

सन १९६२ से ६४ के बीच एक और महान पुण्य का फलोदय हुआ जिसके कारण व्यवसाय और उद्योग के संचालन-संबंधी उत्तरदायित्व से सर्वथा मुक्ति मिली। अब जीवन में अवकाश ही अवकाश था। सन् १९६९ तक बुद्ध-वाणी के हिंदी अनुवाद को ही नहीं, बल्कि मूल पालि के भी कुछ

सूत्रों को पढ़ सकने का अवसर प्राप्त हुआ। मूल पालि में इन सूत्रों को पढ़ते
समय अत्यंत प्रीति-प्रमोद जागता था; तन-मन पुलक-रोमांच से भर उठता
था। सामान्यतया पालिभाषा बहुत सरल लगी, प्रिय लगी और
प्रेरणा-प्रदायक भी। उन सूत्रों की परम पूज्य गुरुदेव द्वारा की गयी व्याख्या
का मन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा और उस व्याख्या के आधार पर
विपश्यना साधना का अभ्यास करते हुए जो अनुभव हुआ, वह अद्भुत था,
अपूर्व था। परियत्ति याने बुद्ध-वाणी, और प्रतिपत्ति याने उसके सक्रिय
अभ्यास, के पावन संगम के कारण धर्म का शुद्ध स्वरूप अधिक उजागर
होता गया। इस अमृत-सागर में गोते लगाते हुए देखा कि विपश्यना का पथ
अत्यंत शुद्ध है, पवित्र है, सुख-शांति प्रदायक है; जात-पांत के भेदभाव से,
सांप्रदायिक वाड़ेबंदी से, उलझाने वाली दार्शनिक मान्यताओं से और थोथे
कर्मकांडों से सर्वथा मुक्त है। इस पथ पर उठाया गया हर कदम हर किसी
व्यक्ति के लिए यहीं इसी जीवन में विकार-विमुक्ति के सुखद परिणाम देने
वाला है।

मुझे लगा कि कल्याणी बुद्ध-वाणी और भगवती विपश्यना को खोकर
हमारे देश ने अपनी एक अत्यंत गौरव, गरिमामय पुरातन अध्यात्म-विद्या
खो दी। शुद्ध सनातन आर्य-धर्म खो दिया। भारत के उन ऐतिहासिक
महापुरुष को खो दिया जो नितांत निश्छल थे, निष्कपट थे, निष्प्रपंच थे,
निष्कलुष थे; जो अनंत मैत्री और करुणा के साक्षात अवतार थे। एक ऐसे
महामानव को खो दिया जो केवल भारत में ही नहीं बल्कि सकल विश्व में
अनुपम थे, अनुत्तर थे, अप्रतिम थे, अद्वितीय थे, असदृश थे; जिनकी
पावन शिक्षा के कारण भारत वस्तुतः विश्व-गुरु बना; भारत की भूमि
विश्व के करोड़ों लोगों के लिए पूजनीय तीर्थभूमि बनी। उन भगवान गौतम
बुद्ध को और उनकी कल्याणी वाणी तथा दुःख-विमोचनी विपश्यना विद्या
को पुनः प्रकाश में लाना हमारे लिए सर्वथा लाभप्रद ही लाभप्रद है।

लगभग २००० वर्षों के लंबे अंतराल के बाद सौभाग्य से सन् १९६९
में विपश्यना का भारत में पुनरागमन हुआ है। भारत के प्रबुद्ध लोगों ने इसे
सहर्ष स्वीकार किया है। साधकों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है।

देखता हूं कि विपश्यना शिविरों में सम्मिलित होने वाले अनेक साधक
भगवान बुद्ध के मूल उपदेशों से अवगत होना चाहते हैं। मैं उनकी इस धर्म
जिज्ञासा को खूब समझ सकता हूं, क्योंकि मैं स्वयं इस अवस्था में से गुजरा
हूं। यह भी समझता हूं कि आज के भारत में पालिभाषा में बुद्ध-वाणी
उपलब्ध नहीं है। नव नालंदा महाविहार ने लगभग पैंतीस वर्ष पूर्व जो
प्रकाशन किया था, वह अब सर्वथा अनुपलब्ध है। परंतु यह प्रसन्नता की
बात है कि विपश्यना विशोधन विन्यास ने न केवल बुद्ध-वाणी बल्कि
उसकी अर्थकथाओं, टीकाओं और अनुटीकाओं के संपूर्ण पालि-साहित्य के
प्रकाशन का बीड़ा उठाया है। लेकिन सभी साधक तो पालि पढ़ नहीं पायेंगे।
हिंदी भाषी साधकों के लिए हिंदी अनुवाद आवश्यक है। जो अनुवाद पहले
हुए थे, दुर्भाग्य से उनमें से भी अधिकांश अब उपलब्ध नहीं हैं। विपश्यना
विशोधन विन्यास की एक योजना पुरातन पालि साहित्य के हिंदी अनुवाद
करने की भी है, परंतु उसमें बहुत समय लगेगा।

अतः अपनी सामर्थ्य-सीमा को जानते हुए भी तिपिटक की एक बृहद
भूमिका लिखने का साहस किया जिससे साधकों को हिंदी भाषा में भगवान
बुद्ध और उनकी शिक्षा के बारे में अधिक से अधिक और सही-सही
जानकारी मिल सके। पालि तिपिटक में से कुछ उद्धरणों और प्रेरक प्रसंगों
को एकत्र करने लगा। जानता हूं कि आज के अधिकांश साधकों की वही
अवस्था है जो १९५५ में मेरी थी। भगवान बुद्ध और उनकी पावन शिक्षा
के बारे में उनका ज्ञान अत्यल्प है और भ्रामक भी। उन भ्रांतियों को दूर
करने के लिए मूल पालि में सुरक्षित बुद्ध-वाणी का ही आश्रय लेना
आवश्यक है। पालि भाषा ही हमें भगवान बुद्ध के अत्यंत समीप पहुँचाती
है, क्योंकि यही उनकी मातृभाषा कोशली थी जो कि तत्कालीन विस्तृत
और शक्तिशाली कोशलदेश की जनभाषा होने के कारण उस सारे मध्यदेश
में बोली और समझी जाती थी जो कि भगवान बुद्ध की चारिका भूमि रही।
कालांतर में इसे सम्राट अशोक ने अपने प्रशासन और धर्मलेखों के लिए
अपना लिया और क्योंकि उसकी राजधानी पाटलिपुत्र मगध में थी और
कोशलप्रदेश भी मगध साम्राज्य में समा गया था, अतः यही कोशली भाषा

मागधी कहलायी जाने लगी। इसने भगवान बुद्ध की वाणी को पाल-सँभाल कर रखा, इसलिए पालि कहलायी।

इसमें सुरक्षित भगवद्-वाणी में सर्वत्र भगवान बुद्ध का कल्याणकारी धर्मकायिक व्यक्तित्व समाया हुआ है, उनके द्वारा प्रवाहित धर्म की अमृत-वाणी का कलकल निनाद समाया हुआ है, उनकी वाणी से प्रभावित होकर और उनके बताये मार्ग पर चल कर निहाल हुए गृह-त्यागियों और गृहस्थों के आदर्श जीवन का भव्य दर्शन समाया हुआ है जो कि साधकों के लिए प्रभूत प्रेरणा-प्रदायक है।

तिपिटक में उनसे संबंधित प्रेरक सामग्री इतनी अधिक मात्रा में है कि कोई कितना भी चयन करे, तृप्ति हो ही नहीं पाती, वैसे ही जैसे कि भगवान बुद्ध के जीवनकाल में उनके गृहस्थ शिष्य हत्थक आलवक ने कहा कि–

"भगवान, मैं आपका दर्शन करते-करते अतृप्त ही रहा।"

"भगवान, मैं आपकी वाणी सुनते-सुनते अतृप्त ही रहा।"

तिपिटक भिन्न-भिन्न प्रकार के सुंदर और सुरभित पुष्पों का एक बृहद मनोरम उद्यान है। मैंने उनमें से थोड़े फूल चुन कर उन्हें माला में गूंथने का प्रयत्न किया है। कहीं-कहीं अर्थकथाओं में से बुद्धपुत्रों की वाणी के भी इक्के-दुक्के नयनाभिराम सुमन लेकर गूंथ लिए हैं। यह सब वैसे ही हुआ जैसे कि भगवान बुद्ध के गुणों का गान करते हुए भावविभोर गृहपति उपालि ने कहा था–

सेय्यथापि, भन्ते, नानापुप्फानं महापुप्फरासि

– जैसे कि, भंते, नाना प्रकार के पुष्पों की एक महान पुष्प-राशि हो,

तमेनं दक्खो मालाकारो वा मालाकारन्तेवासी वा

– जिसे लेकर कोई दक्ष माली अथवा उस माली का अंतेवासी शिष्य,

विचित्तं मालं गन्थेय्य – सुदर्शिनी माला गूंथे।

एवमेव खो, भन्ते, सो भगवा अनेकवण्णो, अनेकसतवण्णो

– इसी प्रकार, भंते, वे भगवान अनेक प्रशंसनीय गुणवाले हैं, अनेक सौ प्रशंसनीय गुण वाले हैं।

को हि, भन्ते, वण्णारहस्स वण्णं न करिस्सति?

(म० नि० २.७७, उपालिसुत्त)

– भंते, प्रशंसनीय की प्रशंसा कौन नहीं करेगा? गुणवंतों के गुण कौन नहीं गायेगा?

उन्हीं गुणवंत भगवान के, उनके सिखाये धर्म के, उस धर्म को धारण कर निर्मल-चित्त हुए संतों के गुण गाने की चाह मेरे भीतर भी जागनी स्वाभाविक थी।

इसी भाव में बुद्ध-वाणी के कुछ एक सुंदर सुरभित सुमनों को चुन-चुन कर यह माला गूंथी गयी है; सद्धर्म के अगाध रत्नाकर से कुछ एक अनमोल रत्न चुन-चुन कर यह रत्न-खचित आभूषण गढ़ा गया है; सद्धर्म के असीम सुधा-सागर में से अमृत की कुछ एक बूंदें लेकर धर्म-सुधा-रस की यह गगरी भरी गयी है।

यह सुंदर सुरभित सुमनों की माला, यह महार्घ रत्नजड़ित स्वर्णाभूषण, यह शांतिप्रदायिनी सुधारस-गगरी, विपश्यी साधकों को तथा अन्यान्य शांतिप्रेमी पाठकों को धर्मपथ पर आरूढ़ होने और उत्तरोत्तर आगे बढ़ते रहने के लिए–

प्रभूत प्रेरणा का कारण बने!

उनके अपरिमित हित-सुख का कारण बने!

उनके असीम मंगल-कल्याण का कारण बने!

उनकी स्वस्ति-मुक्ति का कारण बने!

यही कल्याण कामना है।

कल्याणमित्र,

बुद्ध जयंती, १९९५

सत्यनारायण गोयन्का

संकेत-सूची

अ० नि० = अङ्गुत्तरनिकाय
अट्ठ० = अट्ठकथा
अप० = अपदान
इतिवु० = इतिवुत्तक
उदा० = उदान
कथा० = कथावत्थु
खु० नि० = खुद्दकनिकाय
खु० पा० = खुद्दकपाठ
चरिया० = चरियापिटक
चूळनि० = चूळनिद्देस
चूळव० = चूळवग्ग
जा० = जातक
थेरगा० = थेरगाथा
थेरीगा० = थेरीगाथा
दी० नि० = दीघनिकाय
ध० प० = धम्मपद
ध० स० = धम्मसङ्गणि
धातु० = धातुकथा
नेत्ति० = नेत्तिप्पकरण
पटि० म० = पटिसम्भिदामग्ग
पट्ठा० = पट्ठान
परि० = परिवार
पाचि० = पाचित्तिय
पारा० = पाराजिक
पु० प० = पुग्गलपञ्ञत्ति
पे० व० = पेतवत्थु
पेटको० = पेटकोपदेस
बु० वं० = बुद्धवंस
म० नि० = मज्झिमनिकाय
महाव० = महावग्ग
महानि० = महानिद्देस
मि० प० = मिलिन्दपञ्ह
यम० = यमक
वि० व० = विमानवत्थु
विभ० = विभङ्ग
विसुद्धि० = विसुद्धिमग्ग
सं० नि० = संयुत्तनिकाय
सु० नि० = सुत्तनिपात

समस्त संदर्भ विपश्यना विशोधन विन्यास संस्करण के दिये जा रहे हैं। संदर्भ में सर्वप्रथम ग्रंथ का संक्षिप्त नाम यथा दीघनिकाय के लिये दी० नि०, भाग, उसके बाद अनुच्छेद संख्या दी गयी है। जहां अनुच्छेद संख्या निरंतर नहीं है वहां शीर्षक-उपशीर्षक या उनकी संख्या इत्यादि अनुच्छेद संख्या से पहले दिये गये हैं। जैसे कि संयुत्तनिकाय के लिये – पहले ग्रंथ का नाम, भाग, वग्ग की संख्या या शीर्षक तथा अनुच्छेद संख्या। इसी प्रकार अङ्गुत्तरनिकाय के लिये ग्रंथ का नाम, भाग, निपात तथा अनुच्छेद संख्या दी गयी है। जहां प्रमुख रूप से गाथाएं हैं, जैसे कि धम्मपद इत्यादि में, वहां अनुच्छेद संख्या की जगह गाथा संख्या दी गयी है।

इतिपि सो भगवा सत्था देवमनुस्सानं

भगवान केवल मनुष्यों के ही नहीं, देवों के भी शास्ता थे। यहां अभिप्राय यक्ष, किन्नर, कुष्मांड, नाग तथा अन्य देवों से ही नहीं, बल्कि ब्रह्मलोक के ब्रह्माओं से भी है। उन दिनों उन्हें भी ब्रह्मकायिक देव कहा जाता था।

सहम्पति ब्रह्मा

सम्यक संबोधि प्राप्त करने के पश्चात उनके संपर्क में जो पहला देव आया, वह था – सहम्पति ब्रह्मा। संबोधि प्राप्त कर जब भगवान ने देखा कि जो सत्य उनकी अनुभूति पर उतरा है, वह इतना गंभीर और सूक्ष्म है, दुर्दर्शनीय और दुर्ज्ञेय है कि कामभोगों में लिप्त और अंधमान्यताओं पर आधारित लोकचक्र में उलझे हुए संसारी लोग उसे समझ ही नहीं सकेंगे, उसका अनुभव करना तो दूर रहा। भगवान की यह मनोदशा जान कर सहम्पति ब्रह्मा चिंतित हुआ कि यदि भगवान ने लोगों को धर्म न सिखाया तो अनेक प्राणी, जो योग्य हैं, वे मुक्ति से वंचित रह जायेंगे।

धर्म-याचना

अतः जिस सहजता से कोई बलवान व्यक्ति अपनी फैली बांहों को समेट लेता है, अथवा समेटी बांहों को फैला देता है, उसी सहजता से वह ब्रह्मलोक छोड़ कर पृथ्वीलोक पर भगवान के सामने प्रकट हुआ। फिर उसने अपना ओढ़ा हुआ उपरना अर्थात चद्दर एक कंधे पर कर, अपने दाहिने घुटने को पृथ्वी पर टेक कर, भगवान की ओर हाथ जोड़ कर, इस प्रकार उनके प्रति सम्मान प्रकट करते हुए निवेदन किया –

देसेतु, भन्ते, भगवा धम्मं – भंते, भगवान, धर्म का उपदेश करें।

देसेतु सुगतो धम्मं – सुगत, धर्म का उपदेश करें।

(सं० नि० १.१.१७२, ब्रह्मायाचनसुत्त)

आर्य-धर्म की एक शुद्ध परंपरा चली आ रही है। विपश्यना-साधना के शिविरों में हम इसका दर्शन करते हैं। साधक आचार्य से धर्म-याचना करता है–

निब्बानस्स सच्छिकरणत्थाय मे, भन्ते, विपस्सनं कम्मट्ठानं देहि।

– भंते, निर्वाण के साक्षात्कार के लिए मुझे विपश्यना का कर्मस्थान दीजिए।

धर्म जैसा अनमोल रत्न किसी को बिना मांगे नहीं दिया जाता, किसी पर जबरन नहीं थोपा जाता। मानो इसी स्वस्थ परंपरा का निर्वाह करते हुए समस्त लोकों के देवमनुष्यों के प्रतिनिधि के रूप में सहम्पति ब्रह्मा ने सम्यकसंबोधि-प्राप्त शास्ता से धर्म की याचना की और कहा–

देसेतु, भन्ते, भगवा धम्मं। (सं० नि० १.१.१७२, ब्रह्मायाचनसुत्त)

तदनंतर भगवान ने योग्य पात्रों को धर्म सिखाने का निश्चय किया।

धर्म का ही गौरव

उस समय भगवान के मानस में एक यह चिंतन चला कि मैं किस श्रमण या ब्राह्मण को ज्येष्ठ मान कर धर्म सिखाने का काम आरंभ करूं? उन्होंने अपने बोधि-नेत्रों से देखा कि शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति अथवा विमुक्ति-ज्ञान दर्शन में सकल संसार का कोई श्रमण या ब्राह्मण उनके समकक्ष ही नहीं है, ज्येष्ठ कौन होगा? तो उनके मन में यह भाव जागा कि जिस आर्य-धर्म के आधार पर उन्हें विमुक्ति मिली है, वही ज्येष्ठ है, वही श्रेष्ठ है। उसे ही गौरवान्वित करते हुए मुझे धर्म- सेवा में लग जाना चाहिए।

भगवान के चित्त में उठे हुए इस संकल्प- विकल्प को अपने चित्त से जान कर सहम्पति ब्रह्मा फिर भगवान के सामने प्रकट हुआ और उसी प्रकार आदर प्रकट करता हुआ बोला कि–

एवमेतं, भगवा, एवमेतं, सुगत – ऐसा ही है भगवान, ऐसा ही है सुगत।

तब उसने कहा– भूतकाल में, भविष्य में अथवा वर्तमान में जो भी सम्यक संबुद्ध थे, होंगे, अथवा हैं, वे–

सब्बे सद्धम्मगरुनो – सभी सद्धर्म के प्रति ही गौरवयुक्त होते हैं।

एसा बुद्धान धम्मता – बुद्धों की यही धर्मता होती है। दूसरे शब्दों में उनका यही धर्म-स्वभाव होता है। (सं० नि० १.१.१७३, गारवसुत्त)

सहम्पति ब्रह्मा दीर्घजीवी था। अतः वह भगवान गौतम बुद्ध के पूर्व के कुछ एक सम्यक संबुद्धों के संपर्क में आया था। इसलिए इस सच्चाई को खूब जानता था कि भूतकाल के सम्यक संबुद्ध सद्धर्म को ही गौरव देने वाले थे; वर्तमान और भविष्य के बुद्ध भी यही करेंगे।

ब्रह्मा को आहुति

सहम्पति ब्रह्मा पर भगवान के उपदेशों का गहरा प्रभाव था। भगवान जिस प्रकार लोगों को अंधमान्यताओं और निरर्थक कर्मकांडों से बचाने के लिए प्रयत्नशील रहते थे, वैसे ही सहम्पति ब्रह्मा भी। उसने एक बार देखा कि एक ब्राह्मणी ब्रह्मा को नित्य आहुति देती थी, जबकि ब्रह्मदेव नामक उसका अपना पुत्र भगवान के संपर्क में आकर अरहंत अवस्था प्राप्त कर चुका था। सहम्पति ब्रह्मा करुणापूर्वक उस ब्राह्मणी के सम्मुख प्रकट हुआ और उसके कर्मकांड को निरर्थक बताता हुआ बोला–

दूरे इतो ब्राह्मणि ब्रह्मलोको – हे ब्राह्मणी, ब्रह्मलोक यहां से बहुत दूर है।

तेरी यह आहुति वहां तक कैसे पहुँचेगी?

यह कह कर सहम्पति ब्रह्मा ने मानो भविष्य के ज्ञानी संतों को चिंतन का एक नया आयाम प्रदान कर दिया। कालांतर में हरिद्वार में हर-की-पेड़ी के तट पर जब कोई अंध-भक्त पूर्व की ओर मुँह करके सूरज को जलांजलि दे रहा था, तब श्रीगुरु नानकदेव ने उसके देखते-देखते पश्चिम की ओर मुँह करके जलांजलि देनी शुरू कर दी। पूछने पर उन्होंने उत्तर दिया कि मेरे खेत पश्चिम दिशा में स्थित हैं, मैं उन्हें यहां से पानी देकर सींच रहा हूं।

अंध-भक्त ने यह सुना तो उसने श्री नानकदेव की खिल्ली उड़ायी। तब उन्होंने जवाब दिया कि इतनी दूर सूरज तक तुम्हारी जलांजलि पहुँच सकती है, तो इससे कम दूरी पर स्थित मेरे खेतों तक मेरी जलांजलि क्यों नहीं पहुँचेगी? अंध-भक्त हतप्रभ हुआ। इस समझदारी के चिंतन का आरंभ हमें सहम्पति के इस बोल में दीख पड़ता है, जबकि वह कहता है -

दूरे इतो ब्राह्मणि ब्रह्मलोको।

और सहम्पति ब्रह्मा ने यह भी कहा -

नेतादिसो ब्राह्मणि ब्रह्मभक्खो – हे ब्राह्मणी, ब्रह्मा का तो यह भोजन भी नहीं है। (सं० नि० १.१.१७४, ब्रह्मदेवसुत्त)

स्थूल भोजन देव ब्रह्माओं का आहार नहीं हुआ करता। प्रीति, प्रमोद, सुख, सौमनस्यता अथवा यों कहें - आनंद रस ही उनका आहार होता है।

एक बार किसी ब्राह्मणग्राम में भगवान को भिक्षा नहीं मिली और वे खाली-पात्र लौट आये, तो इसी तथ्य को उजागर करते हुए बड़ी बेफिक्री के साथ उन्होंने कहा था -

पीतिभक्खा भविस्साम, देवा आभस्सरा यथा।

(सं० नि० १.१.१५४, पिण्डसुत्त)

आभास्वर ब्रह्मलोक के देवों के समान मैं प्रीति-भक्षी रहूंगा, अर्थात प्रीति का आहार ग्रहण करूंगा।

फिर मानो ब्राह्मणी को झकझोरते हुए सहम्पति ब्रह्मा ने कहा -

किं जप्पसि ब्रह्मपथं अजानं। (सं० नि० १.१.१७४, ब्रह्मदेवसुत्त)

– ब्रह्मलोक तक पहुँचने के (सही) पथ को जाने बिना ही किस जंजाल में पड़ी हो।

इससे तो अच्छा हो, अपने अरहंत हुए पुत्र ब्रह्मदेव को भोजन-दान दो, जो इस थोथे कर्मकांड से कहीं अधिक फलदायी होगा।

सहम्पति की श्रद्धा बढ़ी

सहम्पति ब्रह्मा पूर्वकाल के सम्यक संबुद्धों का दर्शन कर चुका था। अतः सिद्धार्थ गौतम को सम्यक संबुद्ध हुए देख कर उसकी श्रद्धा जागनी स्वाभाविक थी। परंतु जब भगवान की जीवनचर्या देखी और उससे लाभान्वित हुए लोगों को देखा, तो उसकी श्रद्धा असीम हो उठी। एक दिन अंधक-विंद के घनघोर जंगल में भगवान विहार कर रहे थे। उसने देखा -

तेन खो पन समयेन भगवा – उस समय भगवान,

रत्तन्धकारतिमिसायं – काली, अंधेरी रात में,

अब्भोकासे निसिन्नो होति – खुले आकाश के तले बैठे थे,

देवो च एकमेकं फुसायति – पानी की लगातार झड़ी लगी हुई थी।

वहां -

यत्थ भेरवा सरीसपा – जहां भयानक सर्प सरसरा रहे हों,

विज्जु सञ्चरति – विजली कड़क रही हो,

थनयति देवो – मेघ गरज रहा हो,

अन्धकारतिमिसाय रत्तिया – काली, अंधियारी रात हो,

निसीदि तत्थ भिक्खु – वहां भिक्षु बैठा है,

विगतलोमहंसो – निर्भय, निश्चल, शांत।

निर्जन वन में ऐसे निर्भय, निश्चल, शांत भगवान बुद्ध को ध्यानावस्थित देख कर सहम्पति ब्रह्मा अत्यंत प्रभावित हुआ था।

ऐसे दृढ़व्रती, त्यागी भगवान की अनुपम शिक्षा से लाभान्वित हुए अनेक लोगों को भी उसने देखा और उन्हें देख कर उसने ये प्रशस्ति-भरे शब्द कहे -

इदं हि जातु मे दिट्ठं – इसे मैंने स्वयं अपनी आंखों से भली-भांति देखा है।

न यिदं इतिहीतिहं – यह कोई सुनी- सुनायी मान्यता की बात नहीं है।

क्या देखा उसने? –

एकस्मिं ब्रह्मचरियस्मिं – एक ही ब्रह्मचर्य में,

ब्रह्मचर्य का मतलब कामभोग से निवृत्त होना तो है ही, लेकिन केवल इतना ही नहीं, बल्कि ब्रह्माचरण अर्थात धर्माचरण अर्थात भगवान की शिक्षा के अनुसार संपूर्ण शुद्ध धर्म का जीवन जीना भी है। ऐसे ब्रह्माचरण के इस एक जीवन में ही –

सहस्सं मच्चुहायिनं – एक हजार लोगों ने मृत्यु को हरा दिया।

दूसरे शब्दों में वे जन्म-मरण के भवचक्र से छुटकारा पाकर अरहंत हो गये।

भिय्यो पञ्चसता सेक्खा – पांच सौ से अधिक शैक्ष्य हो गये।

शैक्ष्य माने जिन्हें अरहंत अवस्था तक पहुँचने के लिए अभी कुछ और सीखना बाकी है, परंतु वे अनार्य से आर्य तो हो ही गये। अनागामी अवस्था तक पहुँचे हुए भी शैक्ष्य ही कहलाते हैं। अरहंत हो जायँ, तो अशैक्ष्य कहलायें, अर्थात उन्हें अब और कुछ सीखना बाकी नहीं रहा। और –

दसा च दसधा दस – दस-दस बार सौ,

दस बार सौ हों तो एक हजार हुए, परंतु दस-दस बार सौ माने दसों बार सौ अर्थात अनेक हजार ऐसे हैं जो –

सब्बे सोतसमापन्ना – सभी स्रोतापन्न हो गये हैं,

मुक्ति के स्रोत में पड़ गये हैं, जिनकी मुक्ति निश्चित हो गयी है।

अतिरच्छानगामिनो – जो कि तिरश्चीन योनि में नहीं पड़ सकते।

दूसरे शब्दों में वे अधोगति से सर्वथा मुक्त हो गये हैं।

अनार्य से आर्य हुए इतने लोगों की संख्या गिना कर आगे सहम्पति ब्रह्मा ने कहा –

अथायं इतरा पजा – इनके अतिरिक्त ये इतने लोग और हैं,

पुञ्ञभागाति मे मनो – जिन्हें मैं पुण्यभागी मानता हूं।

ये वे लोग हैं जो अभी आर्य तो नहीं हुए, पृथग्जन ही हैं अर्थात अभी मुक्त अवस्था से पृथक हैं, परंतु मूढ़ पृथग्जन नहीं हैं, कल्याण-पृथग्जन हैं। भगवान के बताये हुए शील, समाधि और प्रज्ञा के रास्ते पर श्रद्धापूर्वक चल रहे हैं। पुनीत मार्ग पर चल रहे हैं, अतः पुण्यशाली हैं, कल्याणपथगामी हैं और देर-सवेर आर्य बन सकने की पूरी-पूरी संभावना रखते हैं। ऐसे लोग इतने हैं कि –

सङ्खातुं नोपि सक्कोमि – उनकी मैं संख्या भी नहीं गिन सकता।

न गिन पाने के कारण उनकी संख्या बता कर मुझे डर है कि –

मुसावादस्स ओत्तपं – कहीं मेरे मुँह से झूठ न निकल जाय।

(सं० नि० १.१.१८४, अन्धकविन्दसुत्त)

महापरिनिर्वाण

भगवान के महापरिनिर्वाण के समय भी सहम्पति ब्रह्मा प्रकट हुआ और उसने इन शब्दों में अपने उद्गार प्रकट किये –

सब्बेव निक्खिपिस्सन्ति, भूता लोके समुस्सयं।

– संसार में उत्पन्न होने वाले सभी प्राणी मृत्यु को प्राप्त होंगे ही।

यत्थ एतादिसो सत्था – जहां ऐसे शास्ता हैं,

लोके अप्पटिपुग्गलो – जो कि संसार में अद्वितीय हैं,

तथागतो बलप्पत्तो – जो कि तथागत हैं, बलशाली हैं,

सम्बुद्धो परिनिब्बुतो – जो संबुद्ध हैं, वे भी परिनिर्वाण को प्राप्त हो गये हैं।

(दी० नि० २.२२०, महापरिनिब्बानसुत्त)

मृत्यु तो सबकी होती है, परंतु वे मर- मर कर पुनः पुनः जन्म लेते रहते हैं और पुनः पुनः मरते रहते हैं, जबकि सम्यक संबुद्ध का जैसे यह अंतिम जन्म होता है, वैसे ही यह अंतिम मृत्यु होती है। इसके बाद न और जन्म होता है, न मृत्यु।

आलार कालाम और उद्दकरामपुत्र

दो प्रकार के लोग संसार में दुर्लभ हैं -

यो च पुब्बकारी - जो (दूसरों की भलाई करने में) पहल करे,

यो च कतञ्ञू कतवेदी - जो कृतज्ञ हों, अहसानमंद हों।

इमे द्वे पुग्गला दुल्लभा लोकस्मिं - संसार में ये दो प्रकार के लोग दुर्लभ हैं।

(पु० प० ८३, दुकपुग्गलपञ्ञत्ति)

हम भगवान में इन दोनों दुर्लभ गुणों का वार-वार दर्शन करते हैं।

जव भगवान ने धर्म सिखाने के लिए शास्ता की भूमिका निभाने का निर्णय किया तो मन में प्रश्न उठा कि सर्वप्रथम किसे धर्म सिखाऊं? तत्काल मन में अपने पूर्व आचार्य आलार कालाम का नाम उभरा। परंतु वोधि- चित्त से जाना कि एक सप्ताह पूर्व ही उनका देहांत हो गया है। दूसरा नाम अपने पूर्व आचार्य उद्दकरामपुत्र का उभरा। परंतु वोधि- चित्त से जाना कि पिछली रात ही उनका भी देहांत हो चुका है। वे उन दोनों को धर्म नहीं सिखा सकते थे। अतः तत्पश्चात दुष्कर तपश्चर्या करते समय खूव लगन से उनकी सेवा करने वाले पंचवर्गीय भिक्षु ध्यान में आये और उन्हें ही सर्वप्रथम धर्म सिखाने का निर्णय किया।

विचारणीय है कि भगवान बुद्ध अपने पूर्व आचार्यों को धर्म सीखने योग्य समझते हुए भी और उनके प्रति कृतज्ञता का भाव रखते हुए भी उन्हें धर्म क्यों नहीं सिखा पाये? देहांत हुआ तो उनका पुनर्जन्म हुआ, क्योंकि वे भव-मुक्त नहीं हुए थे। उनके पास भवमुक्ति की विद्या ही नहीं थी। यही विद्या तो भगवान उन्हें सिखाना चाहते थे। वे दोनों क्रमशः सातवीं और आठवीं ध्यान समापत्तियों के धनी थे। अतः उनका जन्म निश्चित रूप से अरूप ब्रह्मलोक में हुआ। जिन भगवान बुद्ध की पहुँच लोकोत्तर निर्वाण अवस्था तक थी, वे भवाग्र पर स्थित अरूप ब्रह्मलोक में तो जा ही सकते थे। अरूप ब्रह्मलोक में रूप ब्रह्मलोक वाले सूक्ष्म से सूक्ष्म भौतिक शरीर का भी सर्वथा अभाव होता है। वहां केवल विज्ञान रहता है। दूसरे शब्दों में

नाम-स्कंध अर्थात चित्त-स्कंध ही रहता है। रूप-काय पर स्थित रहने वाली आंख, कान, नाक, जीभ और त्वचा - ये पांचों इंद्रियां नहीं होतीं। केवल मनोइंद्रिय ही होती है। अतः भगवान वहां जायँ भी तो उनकी धर्मवाणी सुन सकने के लिए उनके पास श्रवण-इंद्रिय ही नहीं है, तो धर्म सिखाया कैसे जाय? परंतु परचित्त ज्ञान की सिद्धि तो भगवान के पास भी थी और उन दोनों के पास भी होगी ही। अतः चित्त से चित्त की वात समझायी जा सकती थी। परंतु विमुक्ति के लिए विपश्यना साधना सीखनी होती है, जिसके लिए वेदनानुपश्यना की अनिवार्य आवश्यकता होती है, क्योंकि साधक पहले **वेदना पच्चया तण्हा** की अनुभूति करे और उसके समुदय-व्ययधर्मा स्वभाव को संप्रज्ञान से जाने, तो ही **वेदनानिरोधा तण्हानिरोधो** की मुक्त अवस्था का साक्षात्कार कर सकता है। उन्हें **मनोसम्फस्सजा वेदना** की तो अनुभूति हो सकती थी, परंतु वेदना के परिज्ञान अर्थात परिपूर्ण ज्ञान के लिए **कायसम्फस्सजा वेदना** यानी नाम और रूप दोनों से संवंधित वेदनाओं की अनुभूति होनी आवश्यक थी, जो अरूप ब्रह्मलोक निवासी के लिए असंभव थी। अतः चाहते हुए भी भगवान अपने दोनों पूर्व आचार्यों की ऋण अदायगी नहीं ही कर सके।

भगवान ने अरूप ब्रह्मलोक के किसी भी ब्रह्मा को धर्म नहीं सिखाया और इसी प्रकार **असञ्ञसत्त** रूप ब्रह्मलोक के ब्रह्माओं को भी वे धर्म नहीं सिखा सके, क्योंकि उनके पास भी विपश्यना सीखने के लिए पूर्णता का अभाव होता है। उनके पास केवल रूप या भौतिक शरीर होता है, परंतु नाम या चित्त नहीं होता। अतः इस लोक के प्राणी भी भगवान की शिक्षा से पूर्णतया वंचित रह गये। इन्हें छोड़ कर अन्य रूप-ब्रह्मलोकों के अनेक ब्रह्माओं को उनकी शिक्षा का लाभ मिला।

वक ब्रह्मा

उनमें से एक था वक ब्रह्मा।

भगवान अपने एक पूर्व जीवनकाल में **कव्व** नाम के वोधिसत्त्व थे। उनके आचार्य का नाम केशव था, जो अव रूप ब्रह्मलोक में वक ब्रह्मा के

नाम से जन्मा था। अनेक दिनों से यह एक भ्रांत मान्यता चली आ रही थी कि–

पप्पोति मच्चो अमतं ब्रह्मलोकं। (दी० नि० २.३१९, महागोविन्दसुत्त)

– मर्त्य मानव अमर ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।

लोग मानते थे कि मनुष्य तो मर्त्य है, लेकिन ब्रह्मलोक और ब्रह्मलोक के निवासी ब्रह्मा अमर हैं। भगवान ने अपनी अंतर्दृष्टि से जाना कि अन्य अनेकों की भांति वक ब्रह्मा भी इस मिथ्या मान्यता का शिकार है कि वह परम मुक्त अमर अवस्था को प्राप्त हो गया है। वह यह समझ बैठा है कि–

इदं निच्चं – यह नित्य है।

इदं धुवं – यह ध्रुव है।

इदं सस्सतं – यह शाश्वत है।

इदं केवलं – यह समग्र संपूर्ण है।

इदं अचवनधम्मं – यह अच्युतधर्मा है।

इदं हि न जायति न जीयति – यह न जन्मता है, न जीर्ण होता है,

न मीयति न चवति न उपपज्जति – न मरता है, न च्युत होता है और न उत्पन्न होता है।

इतो च पनञ्ञं उत्तरिं निस्सरणं नत्थि – इससे परे कोई निस्सरण नहीं है।

अर्थात यह चरम परम अवस्था है।

भगवान बुद्ध उस ब्रह्मलोक में स्वयं जाकर वक ब्रह्मा से मिले और उसे सच्चाई का दर्शन करा कर इस मिथ्या मान्यता से मुक्त किया और उसका कल्याण किया। वक ब्रह्मा का होश जागा तो कल्याणकारी शास्ता की प्रशस्ति-प्रशंसा में कह उठा–

तथा हि त्यायं जलितानुभावो, ओभासयं तिट्ठति ब्रह्मलोकं।

(सं० नि० १.१.१७५, वकब्रह्मसुत्त)

– सो यह आपका जाज्वल्यमान तेज ब्रह्मलोक को प्रकाश से भर रहा है।

अन्य ब्रह्मा

वक जैसे अनेक ब्रह्मा थे, जो इस मिथ्या धारणा के शिकार थे कि वे स्वयं नित्य, शाश्वत, ध्रुव हैं और जिस ब्रह्मलोक में जन्मे हैं, वह भी नित्य, शाश्वत, ध्रुव है। उनकी मान्यता थी कि मर्त्य लोक के प्राणी जन्म-मरण के चक्र में पड़े हैं, उनमें से कोई मर कर यहां पहुँच जाता है तो अमर हो जाता है। परंतु मर्त्य होने के कारण वे जीवित अवस्था में यहां तक नहीं आ सकते। भगवान ने करुणापूर्वक उनकी यह मिथ्या धारणा दूर करनी चाही और एक ब्रह्मा जो इस मान्यता में जकड़ा हुआ था, उसे इससे मुक्त करने के लिए वे स्वयं ब्रह्मलोक पहुँचे। उनके शिष्य महामोग्गल्लान, महाकाश्यप, महाकप्पिन और अनुरुद्ध भी उस ब्रह्मा के सम्मुख ब्रह्मलोक में प्रकट हुए। जब उसने जाना कि भगवान के ऐसे ऋद्धिमान अरहंत श्रावक दो-चार ही नहीं बल्कि अनेक हैं, तो वह अवाक रह गया, विस्मित रह गया। भगवान के संपर्क में आकर उसे सच्चाई समझ में आयी। धर्म समझ में आया। तब वह कह उठा–

न मे मारिस सा दिट्ठि, या मे दिट्ठि पुरे अहु।

– हे मारिस, आज मेरी वह मान्यता नहीं रही, जो पहले थी।

स्वाहं अज्ज कथं वज्जं – आज मेरे लिये यह कहना गलत है,

अहं निच्चोम्हि सस्सतो – कि मैं नित्य हूं, शाश्वत हूं।

(सं० नि० १.१.१७६, अञ्ञतरब्रह्मसुत्त)

सृष्टि-निर्माता ईश्वर

केवल ब्रह्मा और महाब्रह्मा ही इस भ्रम से भ्रमित नहीं थे, बल्कि उनके अनेक भक्त भी इसी मिथ्या मान्यता में उलझे थे कि–

यो खो सो भवं ब्रह्मा महाब्रह्मा – ये जो ब्रह्मा हैं, महाब्रह्मा हैं;

अभिभू अनभिभूतो – जो विजयी हैं, जो अजित हैं;

अञ्ञदत्थुदसो – जो निश्चित रूप से सर्वदर्शी हैं;

वसवत्ती इस्सरो – जो वशवर्ती (प्रभावशाली) हैं, ईश्वर हैं;

कत्ता निम्माता – जो कर्ता हैं, निर्माता हैं;

सेट्ठो सजिता वसी – जो श्रेष्ठ हैं, आत्मजयी हैं, वशी हैं;

पिता भूतभव्यानं – जो भूतकाल में जन्मे और भविष्यकाल में जन्मने वाले सभी प्राणियों के पिता हैं।

येन मयं भोता ब्रह्मुना निम्मिता – जिन ब्रह्मा के द्वारा हम लोगों का निर्माण हुआ है,

सो निच्चो धुवो सस्सतो अविपरिणामधम्मो सस्सतिसमं तथेव ठस्सति।

(दी० नि० १.४४, ब्रह्मजालसुत्त)

– वे नित्य, ध्रुव, शाश्वत, अपरिवर्तनशील और अचल हैं।

अनेक ब्रह्माओं की यह अहंमन्यता की दृष्टि उन्हें यह मानने को मजबूर करती थी कि जिस ब्रह्मलोक में वे रह रहे हैं, वह ब्रह्मलोक भी नित्य, शाश्वत, ध्रुव है। चूंकि इन ब्रह्माओं और महाब्रह्माओं की आयु असंख्य कल्पों की होती है, इस कारण वे भ्रम-ग्रसित रहते हैं। शास्ता लोगों को इस भ्रम से निकालते थे और बताते थे–

ब्रह्मलोकोपि खो, आवुसो, अनिच्चो अद्धुवो सक्कायपरियापन्नो।

– आयुष्मानो, ब्रह्मलोक भी अनित्य है, अध्रुव है, सत्कायदृष्टियुक्त है।

भगवान लोगों को सत्काय-दृष्टि से छुटकारा पाने की शिक्षा देते थे।

सक्कायनिरोधे चित्तं उपसंहराहि। (सं० नि० ३.५.१०५०, गिलानसुत्त)

– अपने चित्त को सत्काय के निरोध के लिए लगायें।

सत्काय-दृष्टि क्या है

काय कहते हैं निकाय को, संग्रह को, समुच्चय को। एक होता है रूपकाय अर्थात पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु– इन चार महाभूतों से बने कलापों का, परमाणुओं का संग्रह या समुच्चय। यह है हमारी भौतिक काया। दूसरा होता है – नामकाय। विज्ञान, संज्ञा, वेदना और संस्कार – इन चारों का संग्रह या समुच्चय। यह है हमारी चित्त-काया। इन दोनों का समुच्चय ही प्राणी का अस्तित्व है। सामान्य व्यक्ति, जिसे सत्य-धर्म का अनुभवजन्य बोध नहीं होता, इस सतत परिवर्तनशील समुच्चय में एक स्थायी सत्व के अस्तित्व को मानता है। वह इन पांचों में से किसी एक को 'मैं', 'मेरा', 'मेरी आत्मा' मानता है। परिणामस्वरूप इनके प्रति उपादान अर्थात गहरी आसक्ति पैदा करता है। संसार में सबसे गहरी आसक्ति 'मैं', 'मेरे' के प्रति ही होती है। 'मैं', 'मेरे' को कायम रखने की जो तृष्णा पैदा करता है उसी से प्राणी अपने लिए दुःख का प्रजनन आरंभ कर देता है। जैसे-जैसे सत्काय-दृष्टि प्रगाढ़ होती जाती है, देहात्म-बुद्धि, कायात्म-बुद्धि दृढ़ होती जाती है, वैसे-वैसे संयोजन-बंधन दृढ़ होते जाते हैं। सत्काय-दृष्टि तीन प्रमुख संयोजनों में से एक है।

तीणि संयोजनानि – सक्कायदिट्ठि, विचिकिच्छा, सीलब्बतपरामासो।

(दी० नि० ३.३०५, सङ्गीतिसुत्त)

– सत्काय-दृष्टि, विचिकित्सा अर्थात संदेह और शील-व्रत-परामर्श अर्थात किन्हीं किन्हीं शील-व्रतों के प्रति गहन आसक्ति।

इन तीनों से छुटकारा पाये बिना कोई अनार्य आर्य नहीं बन सकता। जब कोई व्यक्ति स्रोतापन्न अर्थात आर्य बनता है, तब उसकी एक पहचान यह होती है कि उसके ये तीन संयोजन टूट चुके होते हैं। स्रोतापन्न होता है, तब पहली बार निरोध का, निर्वाण का साक्षात्कार करता है।

यं किञ्चि समुदयधम्मं सब्बं तं निरोधधम्मन्ति।

(महाव० ६१, सारिपुत्तमोग्गल्लानपब्बज्जाकथा)

– जो कुछ उत्पन्न होने वाले धर्म हैं वे सभी नष्ट होने के स्वभाव वाले हैं अर्थात जो उत्पन्न होता है, उसका निरोध होता है।

इस प्रथम साक्षात्कार के साथ-साथ उसके तीनों संयोजन टूट जाते हैं।

सहावस्स दस्सनसम्पदाय – (निर्वाणिक) दर्शन की उपलब्धि होने के साथ ही,

तयस्सु धम्मा जहिता भवन्ति – ये तीनों गुण, धर्म, स्वभाव छूट जाते हैं।

सक्कायदिट्ठी विचिकिच्छितञ्च, सीलब्बतं वापि यदत्थि किञ्चि।

– सत्काय-दृष्टि, विचिकित्सा और शील- व्रत-परामर्श।

ऐसा व्यक्ति –

चतूहपायेहि च विप्पमुत्तो (सु० नि० २३३-२३४, रतनसुत्त)

– चार अपाय गतियों से यानी अधोगतियों से सर्वथा विमुक्त हो जाता है।

चार अपाय गतियां होती हैं– निरय अर्थात नरक योनि, तिरश्चीन अर्थात पशु, पक्षी, सरीसृप, कीट-पतंग योनि, असुर योनि और प्रेत योनि।

देव-ब्रह्माओं के लिए इन तीन संयोजनों में से सत्काय-दृष्टि का संयोजन सबसे प्रमुख होता है। सभी प्राणियों की भांति देव- ब्रह्माओं पर भी शास्ता की अपरिमित करुणा बरसती है। धर्म-देशना द्वारा वे उन्हें सत्काय-दृष्टि का परिज्ञान करवाते हैं।

अयमेव खो, आवुसो, अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो एतस्स सक्कायस्स परिञ्ञाय। (सं० नि० २.४.३२८, सक्कायपञ्हासुत्त)

– सत्काय के परिज्ञान के लिए यही एक आर्य अष्टांगिक मार्ग है। यही सत्काय के निरोध का मार्ग है। यही चारों अधोगतियों से छुटकारा दिलाने का मार्ग है। यही किसी अनार्य को आर्य बनाने का मार्ग है।

जब तक संसार में सम्यक संबुद्ध जैसे शास्ता का प्रादुर्भाव नहीं होता, तब तक मनुष्यों और देव-ब्रह्माओं को कोई यह बताने वाला नहीं होता कि सत्काय-दृष्टि क्या है और इसकी उत्पत्ति कैसे होती है? इसका निरोध और निरोध का उपाय भला कौन बताये? जब संसार में सम्यक संबुद्ध उत्पन्न होते हैं, तब वे यह धर्म-देशना देते हैं–

अयं... सक्कायो – यह सत्काय है,

अयं... सक्कायसमुदयो – यह सत्काय का समुदय है,

अयं... सक्कायनिरोधो – यह सत्काय का निरोध है,

अयं... सक्कायनिरोधगामिनीपटिपदा – यह सत्काय-निरोध-गामिनी प्रतिपदा है। (सं० नि० २.३.१०५, सक्कायसुत्त)

भगवान यह उपदेश मनुष्यों को ही नहीं, देवताओं को भी देते थे। केवल देवलोक के देवों को ही नहीं, बल्कि रूप ब्रह्मलोक के ब्रह्माओं को यानी ब्रह्मकायिक देवों को भी देते थे।

येपि ते, भिक्खवे, देवा – भिक्षुओ, ये जो देवगण हैं, जो

दीघायुका – लंबी उम्र वाले हैं,

वण्णवन्तो – सुंदर हैं, प्रशंसनीय हैं,

सुखबहुला – बहुत सुख भोगी हैं,

उच्चेसु विमानेसु चिरट्ठितिका – चिरकाल से ऊंचे विमान रूपी महलों में रहने वाले हैं,

तेपि तथागतस्स धम्मदेसनं सुत्वा – वे भी भगवान की धर्म-देशना सुन कर,

येभुय्येन – लगभग सभी,

भयं संवेगं सन्तासं आपज्जन्ति – भय- संकुल हो उठते हैं, संत्रास को प्राप्त हो जाते हैं।

उन्होंने कभी ऐसा सुना भी नहीं था, सोचा भी नहीं था कि वे भी मनुष्य, पशु आदि की भांति मर्त्य हैं। सत्काय-दृष्टि के अधीन होने के कारण वे अपने आपको अमर मानते थे। भगवान की धर्म-देशना सुन कर वे तथ्य को समझते हैं तथा कह उठते हैं–

अनिच्चाव किर, भो, मयं समाना निच्चम्हाति अमञ्ञिम्ह।

– अरे, अनित्य होते हुए भी हम अपने आपको नित्य मानते रहे।

अद्धुवाव किर, भो, मयं समाना धुवम्हाति अमञ्ञिम्ह।

– अरे, अध्रुव होते हुए भी हम अपने आपको ध्रुव मानते रहे।

असस्सताव किर, भो, मयं समाना सस्सतम्हाति अमञ्ञिम्ह।

– अरे, अशाश्वत होते हुए भी हम अपने आपको शाश्वत मानते रहे।

भ्रम में पड़े हुए देव-ब्रह्माओं को पहले यह समझ में आना आवश्यक है कि वे अमर नहीं हैं।

मयम्पि किर, भो, अनिच्चा अद्धुवा असस्सता – अरे, हम भी अनित्य हैं, अध्रुव हैं, अशाश्वत हैं।

तभी उनकी समझ में आता है कि हम–

सक्कायपरियापन्ना – सत्काय-दृष्टि में पड़े हैं।

(सं० नि० ३.३.७८, सीहसुत्त)

हम अमर नहीं हैं, अतः मृत्यु होने पर अपाय-गति को भी प्राप्त हो सकते हैं। सत्काय के संयोजन से वाहर निकलने के लिए भगवान इन्हें शील, समाधि और प्रज्ञा के आर्य अष्टांगिक मार्ग की शिक्षा देते थे। हम भी मर्त्य हैं, इस जानकारी के कारण उत्पन्न हुए उनके भय को दूर करने के लिए उन्हें आश्वासन-भरी धर्म-देशना देते थे। इस अष्टांगिक मार्ग अर्थात सत्काय-निरोध- गामिनी प्रतिपदा पर चलने वाले, विपश्यना का अभ्यास करते हुए पूर्व-संस्कारों का क्षय करना शुरू करते हैं, तो आरंभ में अधोगति के संस्कारों का ही क्षय होता है। अधोगति की ओर ले जाने वाले सारे संस्कारों के क्षय होने पर ही पहली वार इंद्रियातीत निर्वाण का साक्षात्कार होता है। तव साधक स्रोतापन्न अवस्था प्राप्त करता है, मुक्ति के स्रोत में पड़ जाता है। उसकी मुक्ति निश्चित हो जाती है। अपाय गति, अधोगति के सारे संचित संस्कारों की निर्जरा हो जाने से जव मुक्ति की यह प्रथम अवस्था प्राप्त होती है तव–

खीणं पुराणं नव नत्थि सम्भवं – (अधोगति के) पुराने (कर्म-संस्कार) क्षीण हो जाते हैं और नये वनते नहीं। (सु० नि० २३८, रतनसुत्त)

इस प्रकार वह–

चतूहपायेहि च विप्पमुत्तो – चारों अपाय गतियों से मुक्त हो जाता है।

(सु० नि० २३४, रतनसुत्त)

अपाय गति के पुराने कर्म-संस्कार रहें नहीं और नये वन नहीं सकें, तो अपाय गति का निरोध स्वतः हो जाता है। विपश्यना का अभ्यास करते हुए साधक और आगे वढ़ता है तो अंततः अरहंत अवस्था प्राप्त कर सारे कर्म-संस्कारों का क्षय कर लेता है। इस अवस्था में किसी भी लोक में जन्म देने वाला कोई भी नया कर्म-संस्कार नहीं वन पाता, तो केवल अपाय ही नहीं वल्कि सभी लोकों के जन्म से सर्वथा मुक्त हो जाता है, भवचक्र से छूट जाता है।

भगवान केवल अपाय गति से ही नहीं, वल्कि सारी गतियों से पूर्णतया भवमुक्त हो जाने का मार्ग सिखाते थे। पथ पर चलने वाले की पहली उपलब्धि स्रोतापन्न अवस्था होती है, जिससे अपाय गति से मुक्ति मिलती है। लेकिन जो अभी स्रोतापन्न भी नहीं हो पाया, वह चाहे ऊंचे से ऊंचे ब्रह्मलोक का महाब्रह्मा ही क्यों न हो, उसकी आयु अनेक कल्पों की ही क्यों न हो, उसके लिए अपाय गति का द्वार खुला रहता है, क्योंकि उसके अंतर्मन में अपाय गति के कर्म-संस्कार शेष रहते हैं। भगवान का उपदेश सुन कर जव यह सच्चाई समझ में आयी तव दीर्घायु, ब्रह्मकायिक देवों का भयभीत और संत्रस्त हो उठना स्वाभाविक था। जो ब्रह्मलोकिय जीवन का असीम सुख भोग रहे हों और अपने को भवमुक्त और अमर मान वैठे हों, वे यदि यह सच्चाई समझ लें कि न वे अमर हैं, न मुक्त, ब्राह्मी जीवन पूरा होने पर उनका पुनर्जन्म होना निश्चित है और चूंकि अपने संचित कुशल कर्मों का सुफल ब्रह्मलोक में भोग कर पूरा कर चुके होंगे, अतः जो कर्म-संस्कार वचेंगे, वे अधोगति के ही होंगे। इस कारण उनका नरक लोक में, अथवा पशुलोक में, अथवा प्रेतलोक में, अथवा असुरलोक में जन्म होगा। इस चिंतनमात्र से भय के मारे उनके रोंगटे खड़े हो जाना स्वाभाविक है।

परंतु इस कटु सत्य को स्वीकार करने वाले के लिए भगवान आश्वासन-भरा मुक्ति का मार्ग दिखाते थे, जिसका लाभ अनेक देव-ब्रह्माओं ने लिया और उनका कल्याण सधा। वे सत्काय-दृष्टि से बाहर आये और मुक्ति के पथ पर आगे बढ़ते चले गये।

कोई देव-ब्रह्म हो या मानव, जब तक विपश्यना द्वारा अपने बारे में सच्चाई का यथाभूत दर्शन नहीं करता, तब तक रूप- स्कंध को अथवा विज्ञान, संज्ञा, वेदना, संस्कार में से किसी एक को 'मैं', 'मेरा' और 'मेरी आत्मा' मान कर सत्काय-दृष्टि में उलझा रहता है। शील का पालन कर, समाधि का अभ्यास कर, प्रज्ञा से विपश्यना की भावना कर, जब इन पांचों को अलग-अलग करके स्वयं देख लेता है, तब उनके अनित्य, दुःख और अनात्म स्वभाव को अनुभूति के स्तर पर जान लेता है। उसके लिए यह किसी संप्रदाय की दार्शनिक मान्यता के प्रति अभिनिवेश न होकर अनुभूति पर आधारित सम्यक दर्शन होता है। ऐसा व्यक्ति इन पांच स्कंधों को आत्मा मान कर या इनमें छिपी हुई कोई अलग-थलग आत्मा का अस्तित्व मान कर उलझा नहीं रहता और विपश्यना करते हुए जब उसे इन पांच स्कंधों के परे नाम-रूपातीत निर्वाण- अवस्था का साक्षात्कार हो जाता है, तब और भी स्पष्ट हो उठता है कि नाम-रूप के क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि उसके परे के क्षेत्र में भी किसी नित्य, शाश्वत, ध्रुव आत्मा का अस्तित्व नहीं है। निर्वाण एक ऐसा अनंत है, जहां किसी ससीम व्यक्ति का अस्तित्व नहीं रह पाता। अतः सत्काय-दृष्टि वाली आत्मा न नाम-रूप के क्षेत्र में है और न ही उसके परे के निर्वाणिक क्षेत्र में। विपश्यना द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है –

सब्बे धम्मा अनत्ताति – सारी अवस्थाएं अनात्म हैं,

यदा पञ्ञाय पस्सति – जब इस सत्य को विपश्यना की प्रज्ञा से देख लेता है,

(ध० प० २७९, मग्गवग्ग)

अर्थात जब स्वयं अनुभव कर लेता है, तब सत्काय-दृष्टि स्वतः टूट जाती है। तब दार्शनिक मान्यता के स्तर पर नहीं, बल्कि वास्तविकता के स्तर पर यह अत्यंत स्पष्ट हो उठता है कि–

यथा हि अङ्गसम्भारा, होति सद्दो रथो इति।

– जैसे भिन्न-भिन्न पुर्जों को जोड़ देने से 'रथ' शब्द प्रयोग में आता है,

एवं खन्धेसु सन्तेसु, होति सत्तोति सम्मुति॥

(सं० नि० १.१.१७१, वजिरासुत्त)

– ऐसे ही (पांच) स्कंधों के जुड़ने से सत्त्व (प्राणी) शब्द व्यवहार में आता है।

जब तक यह सच्चाई अनुभूति पर नहीं उतरती तब तक प्राणी भवचक्र में ही पड़ा रहता है, बाहर नहीं निकल पाता। जैसे कोई श्वान किसी गड़े खूंटे से बँधा हो, तो वह उसी खूंटे के इर्द-गिर्द चक्कर काटता है। यदि चलता है तो उसी खूंटे के इर्द- गिर्द, खड़ा होता है, तो उसी खूंटे के इर्द-गिर्द, बैठता है तो उसी खूंटे के इर्द-गिर्द, और लेटता है तो उसी खूंटे के इर्द-गिर्द। इसी प्रकार जो व्यक्ति इस नाम और रूप के खूंटे से बँधा होता है वह इन पांच स्कंधों को ही **एतं मम, एसोहमस्मि, एसो मे अत्ता** (सं० नि० २.३.१००, दुतियगद्दुलबद्धसुत्त) – अर्थात 'यह मेरा है', 'यह मैं हूं', और 'यह मेरी आत्मा है' – यों मानते रहता है; अथवा आत्मा को नाम-रूपवान या नाम-रूप में आत्मा या आत्मा में नाम-रूप मानते रहता है। दूसरे शब्दों में वह इस नाम-रूप के खूंटे के इर्द- गिर्द ही घूमता रहता है; इसी के इर्द-गिर्द चलता है, खड़ा होता है, बैठता है और लेटता है।

सो रूपं... वेदनं... सञ्ञं... सङ्खारे... विञ्ञाणं अनुपरिधावं अनुपरिवत्तं।

– वह रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के खूंटे के इर्द-गिर्द दौड़ता और चक्कर लगाता हुआ,

न परिमुच्चति रूपम्हा... वेदनाय... सञ्ञाय... सङ्खारेहि... विञ्ञाणम्हा।

– न परिमुक्त होता है रूप से और न ही वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान से तथा –

न परिमुच्चति जातिया जरामरणेन सोकेहि परिदेवेहि दुक्खेहि दोमनस्सेहि उपायासेहि।

– न परिमुक्त होता है जन्म लेने से, न जरा और मृत्यु को प्राप्त होने से, न शोक और विलाप से और न ही दुःख, दौर्मनस्य और संताप से।

न परिमुच्चति दुक्खस्माति वदामि। (सं० नि० २.३.९९, गद्दुलबद्धसुत्त)

– वह प्राणी दुःख से परिमुक्त नहीं होता है, ऐसा मैं कहता हूं।

शास्ता के इस गुरु-गंभीर कथन को जिन देव-ब्रह्माओं ने समझा, वे यही कह उठे –

न मे मारिस सा दिट्ठि, या मे दिट्ठि पुरे अहु।
स्वाहं अज्ज कथं वज्जं, अहं निच्चोम्हि सस्सतो॥

(सं० नि० १.१.१७६, अञ्ञतरब्रह्मसुत्त)

– हे मान्यवर, आज मेरी वह मान्यता नहीं है जो पहले थी। आज मेरे लिए यह कहना गलत है कि मैं नित्य हूं, शाश्वत हूं।

ब्रह्मा सनत्कुमार

ब्रह्मा सहम्पति की भांति ब्रह्मा सनत्कुमार भी शास्ता के प्रति अत्यंत श्रद्धालु था। वह उनकी और उनकी शिक्षा की महानता को खूब समझता था। वह भगवान की इस वाणी को भली-भांति समझ गया था –

यावता, भिक्खवे, सहस्सी लोकधातु– सहस्र चक्रवालों का जितना त्रिलोकी क्षेत्र है,

महाब्रह्मा तत्थ अग्गमक्खायति – महाब्रह्मा उसमें अग्र कहलाता है।

महाब्रह्मुनोपि खो, भिक्खवे, अत्थेव अञ्ञथत्तं, अत्थि विपरिणामो।

(अ० नि० ३.१०.२९, पठमकोसलसुत्त)

– भिक्षुओ, महाब्रह्मा भी परिवर्तनशील है, विपरिणामधर्मा है। वह भी नित्य, शाश्वत, ध्रुव नहीं है बल्कि अनित्य है और समय पाकर मृत्यु और पुनर्जन्म को प्राप्त होने वाला है।

ऐसे अग्र महाब्रह्माओं की तुलना में बुद्ध पुनर्जन्म से मुक्त हो चुके होते हैं। अतः सनत्कुमार ब्रह्मा ने श्रद्धापूर्वक यह घोषणा की कि –

विज्जाचरणसम्पन्नो – जो विद्याचरणसम्पन्न हैं, जो सम्यक संबुद्ध शास्ता हैं,

सो सेट्ठो देवमानुसे – वे सारे देव- मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं।

(सं० नि० १.१.१८२, सनङ्कुमारसुत्त)

अन्य ब्रह्मा

इनके अतिरिक्त हम अन्य अनेक ब्रह्माओं को भी भगवान की सेवा में, उनके दर्शन के लिए और उनसे धर्म सुनने के लिए आते हुए देखते हैं। हम शुद्धावास और सुब्रह्मा नाम के प्रत्येक-ब्रह्माओं को दिन के समय भगवान से मिलने के लिए उनकी कुटिया के बाहर द्वार की चौखट के एक-एक किवाड़ के सहारे खड़े देखते हैं, जबकि भगवान ध्यान में लीन हैं।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि जब भिक्षु कोकालिक, सारिपुत्त और मोग्गल्लान का विरोधी हो गया तब तुतु नाम का प्रत्येक- ब्रह्मा उसे समझाने के लिए आया।

मानवलोक में जब कोई व्यक्ति साधना करता हुआ अनागामी फल प्राप्त कर मृत्यु को प्राप्त होता है, तब शुद्धावास ब्रह्मलोकों में जन्म लेता है और वहां अरहंत अवस्था प्राप्त कर पुनर्जन्म से सर्वथा विमुक्त हो जाता है। भगवान के कुछ शिष्य मनुष्यलोक से च्युत होकर शुद्धावास अविह ब्रह्मलोक में जन्मे। घटीकार ब्रह्मा ने इसकी घोषणा करते हुए कहा –

उपको पलगण्डो च, पुक्कुसाति च ते तयो।
भद्दियो खण्डदेवो च, बाहुरग्गि च सिङ्गियो॥

– उपक, पलगंड, पुक्कुसाति – ये तीन, तथा भद्दिय, बाहुरग्गि और सिंगिय,

ते हित्वा मानुसं देहं, दिब्बयोगं उपच्चगुं। (सं० नि० १.१.५०, घटीकारसुत्त)

– ये मनुष्य देह को त्याग कर दिव्य अवस्था को प्राप्त हुए हैं।

ये सभी मनुष्य जीवन में अनागामी अवस्था प्राप्त कर चुके थे।

देवलोकों के देवता

मनुष्यलोक के मनुष्यों और ब्रह्मलोक के ब्रह्माओं के समान देवलोक के देवता भी भिन्न-भिन्न प्रकृति वाले होते हैं। मनुष्य जीवन में शील पालन करने के कारण, अथवा दान देने के कारण, अथवा अन्य कोई पुण्य-कर्म संपादित करने के कारण, उन्हें देवलोक में जन्म मिलता है। इनमें से अनेक अपने कुशल कर्मों का सुख भोगने में लीन रहते हैं। वहां के आमोद-प्रमोद, राग-रंग, वैभव-विलास में निमग्न रहते हुए अपने को भाग्यशाली मानते हैं।

राजस्थान के गांव की कोई महिला राजधानी जयपुर आ जाती है तो वहां की तड़क-भड़क से चकाचौंध होकर कह उठती है–

"जो ना देख्यो जयपुरियो। तो जग में आकर के करियो॥"

अगर जयपुर ही नहीं देखा, तो इस जग में आकर क्या किया? भारत के किसी अन्य भाग का निवासी कश्मीर जाय तो वहां की नैसर्गिक सुषमा देख कर कह उठेगा कि "धरती पर यही स्वर्ग है"। इसी प्रकार देवलोक में जन्मा हुआ कोई देवपुत्र देवलोक के नंदन-वन की दिव्य-सुषमा देख कर हर्ष- विभोर हो कह उठता है–

न ते सुखं पजानन्ति, ये न पस्सन्ति नन्दनं। (सं० नि० १.१.११, नन्दनसुत्त)

– जिन्होंने नंदन-वन को नहीं देखा, वे सुख को नहीं जान सकते।

उनके लिए नंदन-वन का ऐंद्रिय सुख ही परम सुख है। परंतु देवलोक में ऐसे देव भी हैं जिन्होंने भगवान से अथवा भगवान के शिष्यों से सुना है–

निब्बानं परमं सुखं – निर्वाण ही परम सुख है।

(ध० प० २०३-२०४, सुखवग्ग)

वे उस अज्ञानी देवता को उत्तर देते हैं–

न त्वं बाले पजानासि, यथा अरहतं वचो – मूर्ख, तुम नहीं जानते, जो अरहतों ने कहा है।

अनिच्चा सब्बसङ्खारा – सारे संस्कार अनित्य हैं,

उप्पादवयधम्मिनो – उत्पन्न होना और नष्ट हो जाना इनका धर्म स्वभाव है।

उप्पज्जित्वा निरुज्झन्ति – जब ये उत्पन्न होकर निरुद्ध हो जाते हैं, यानी निरोध-निर्वाण-अवस्था प्राप्त हो जाती है, तो–

तेसं वूपसमो सुखो – यों उनके नितांत उपशमन हो जाने में ही सही सुख है।

(सं० नि० १.१.११, नन्दनसुत्त)

हम ऐसे भी अनेक देवताओं को देखते हैं, जिन्हें सम्यक संबुद्ध की महत्ता का पूरा-पूरा ज्ञान है। वे जानते हैं कि **बुद्धुप्पादो दुल्लभो लोकस्मिं** – संसार में बुद्ध का प्रादुर्भाव दुर्लभ है, कठिन है। संसार में ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना कभी-कभार ही घटती है जब कोई बोधिसत्त्व असंख्य जन्मों में पारमिताएं पूरी करके अंतिम जन्म ग्रहण करता है। ऐसा हुआ देख कर ये समझदार देवता बहुत खुशियां मनाते हैं। जब बोधिसत्त्व गौतम का जन्म हुआ, तब देवलोक गया हुआ ब्राह्मण ऋषि देवल वहां की खुशियों का माहौल देख कर चकित रह गया। ऐसी खुशियां तो देवों ने असुरों को युद्ध में हरा कर भी नहीं मनायी थीं। ऋषि देवल ने विस्मित होकर पूछा–

किमब्भुतं दट्ठु मरू पमोदिता,

– कौन सी ऐसी अद्भुत बात देख कर ये देवता प्रमोद से भर उठे हैं।

सेळेन्ति गायन्ति च वादयन्ति च – जोर- शोर से गाते हैं, बजाते हैं,

भुजानि फोटेन्ति च नच्चयन्ति च – ताल ठोक-ठोक कर नाचते हैं।

(सु० नि० ६८६-६८७, नालकसुत्त)

विचित्र दृश्य उपस्थित है।

सक्कञ्च इन्दं सुचिवसने च देवे – ये देवता इन्द्र सहित सुंदर वस्त्र धारण किये हुए हैं, और

दुस्सं गहेत्वा अतिरिव थोमयन्ते – चादर उछाल-उछाल कर अत्यंत सम्मानपूर्वक गुणगान कर रहे हैं। (सु० नि० ६८४, नालकसुत्त)

विस्मित ऋषि देवल ने जब देवताओं से कारण पूछा, तब उन्होंने बताया –

सो बोधिसत्तो रतनवरो अतुल्यो, मनुस्सलोके हितसुखत्थाय जातो।

– प्राणियों के हित-सुख के लिए वे रत्न सदृश बोधिसत्त्व मनुष्यलोक में जन्मे हैं।

सिद्धार्थ गौतम अभी बोधिसत्त्व ही हैं, परंतु पूर्ण परिपक्व बोधिसत्त्व हैं, जो इसी जीवन में सम्यक संबोधि प्राप्त करेंगे और लोक-कल्याण के लिए धर्मचक्र प्रवर्तन करेंगे। इसी कारण बोधिसत्त्व की प्रशस्ति में देवताओं ने ऐसे उदार शब्दों का प्रयोग किया।

सो सब्बसत्तुत्तमो – वे जो सारे प्राणियों में सर्वोत्तम हैं,

अग्गपुग्गलो – जो अग्र पुद्गल हैं अर्थात प्राणियों में अगुआ हैं,

नरासभो – जो नरों में वृषभ सदृश हैं,

सब्बपजानमुत्तमो – (देव मनुष्यों की) सारी प्रजा में श्रेष्ठ हैं।

(सु० नि० ६८८-६८९, नालकसुत्त)

बोधिसत्त्व के प्रति इस कदर आदरभाव रखने वाले देवता स्वभावत: इस बात की प्रतीक्षा करने लगे थे कि बोधिसत्त्व कब सम्यक संबोधि प्राप्त करेंगे और कब विमुक्ति की विद्या का उद्घाटन करते हुए धर्मचक्र प्रवर्तन करेंगे। उनके कारण भिन्न-भिन्न देवलोकों और ब्रह्मलोकों के अन्य देव, ब्रह्माओं में भी यह उत्कंठा जागी होगी। अत: जब ऋषिपत्तन मृगदाय में धर्म-चक्र-प्रवर्तन हुआ, तब दृश्य-जगत में तो वह उन पंचवर्गीय भिक्षुओं के लिए प्रवर्तित किया गया था, परंतु उस गंभीर देशना की धर्म-तरंगें सभी लोकों में व्याप्त हो गयीं।

धर्म-चक्र-प्रवर्तन के उपदेश की भगवद्- वाणी पांचों भिक्षुओं ने तो सुनी ही; उनके साथ-साथ अदृश्य भूमट्ठ-देव, अर्थात धरती से जुड़े हुए देवों ने भी सुनी। इसे सुन कर उनका मन आह्लाद से भर गया और उन्होंने मुक्त कंठ से तुमुल-नाद में यह घोषणा की –

एतं भगवता वाराणसियं इसिपतने मिगदाये

– भगवान ने वाराणसी के इस ऋषिपत्तन मृगदाय में,

अनुत्तरं धम्मचक्कं पवत्तितं – ऐसे अनुपम धर्मचक्र का प्रवर्तन किया है, जिसका –

अप्पटिवत्तियं – प्रत्यावर्तन नहीं किया जा सकता,

समणेन वा ब्राह्मणेन वा – किसी भी श्रमण या ब्राह्मण द्वारा,

देवेन वा मारेन वा – किसी भी देवता या मार द्वारा,

ब्रह्मुना वा केनचि वा लोकस्मिं – किसी भी ब्रह्मा या संसार के अन्य किसी भी प्राणी द्वारा।

जिस लोकमंगलकारी धर्मचक्र के प्रवर्तन के लिए भगवान ने सम्यक संबोधि उपलब्ध की और जिस सम्यक संबोधि को उपलब्ध करने के लिए बोधिसत्त्व ने अनगिनत जन्मों में विशिष्ट त्याग और तपस्या द्वारा अपूर्व पुण्य- पारमिताओं का संचय-संग्रह किया, उनका अनुपम धर्मबल इस धर्मचक्र के प्रवर्तन में लगा हुआ था। उसे भला संसार का कौन सा प्राणी और कौन सी शक्ति प्रत्यावर्तित कर सकती थी?

भूमट्ठ-देवों की यह गगनभेदी घोषणा चातुर्महाराजिक देवलोक के देवताओं ने सुनी, जिसे सुन कर उन्होंने भी यह घोषणा दोहरायी, जिसे तावतिंस देवलोक के देवों ने सुनी और उन्होंने भी यह घोषणा दोहरायी। यों क्रमश: याम देवलोक के देवताओं, तुषित देवलोक के देवताओं, निर्माणरति देवलोक के देवताओं, परनिर्मित वशवर्ती देवलोक के देवताओं से होती हुई विभिन्न ब्रह्मलोकों के ब्रह्मकायिक देवताओं तक गुंजित, अनुगुंजित हुई।

तेन मुहुत्तेन याव ब्रह्मलोका सद्दो अब्भुग्गच्छि।

– इस प्रकार मुहूर्त भर में यह शब्द ब्रह्मलोकों तक पहुँच गया।

एतं भगवता वाराणसियं इसिपतने मिगदाये अनुत्तरं धम्मचक्कं पवत्तितं... इत्यादि।

(सं० नि० ३.५.१०८१, धम्मचक्कप्पवत्तनसुत्त)

इस गुरु-गंभीर धर्मनाद से सभी देव और ब्रह्मलोकों में चेतना का एक प्रबल प्रकाश फैला। सबके कान खड़े हुए। संसार में एक ऐसी अद्भुत घटना

घटी है, जो अनेकानेक सदियों में कभी-कभार एक बार घटती है। इस घटना ने अनेक यक्ष, किन्नर, गंधर्व, नाग और देव-ब्रह्माओं को भगवान की ओर आकर्षित किया।

सातागिरि हेमवत यक्ष

धर्म-चक्र-प्रवर्तन के तुरंत बाद सातागिरि और हेमवंत यक्ष अपने एक हजार साथियों के साथ भगवान से मिलने गये। भगवान ने उनकी धर्मसंबंधी जिज्ञासा पूरी की। दोनों अत्यंत संतुष्ट एवं प्रसन्न हुए और उन्होंने अपना हर्ष इन शब्दों में प्रकट किया-

सुदिट्ठं वत नो अज्ज - आज हमने यहां मांगलिक दृश्य देखा है,

सुप्पभातं सुहुट्ठितं - आज हमारे लिए मंगल प्रभात का मांगलिक उदय हुआ है,

यं अद्दसाम सम्बुद्धं - हमने उन सम्यक संबुद्ध के दर्शन किये हैं,

ओघतिण्णमनासवं - जो भवसागर को पार कर गये हैं और आस्रवमुक्त हैं।

इमे दससता यक्खा - ये एक हजार यक्ष,

इद्धिमन्तो यसस्सिनो - जो ऋद्धि-संपन्न हैं, यशस्वी हैं,

सब्बे तं सरणं यन्ति - ये सबके सब आपकी शरण जाते हैं,

त्वं नो सत्था अनुत्तरो - आप हमारे परम श्रेष्ठ शास्ता हैं।

सद्धर्म का अपना एक स्वभाव है। जो सद्धर्म का दर्शन कर उसका रस चख लेता है उससे रहा नहीं जाता; वह औरों से भी कहने लगता है-

एहिपस्सिको, एहिपस्सिको - आओ, इस सद्धर्म को तुम भी देखो, तुम भी यह रस चख कर देखो।

और यही हुआ। सातागिरि और हेमवंत के नेतृत्व में इन यक्षों ने निर्णय किया कि-

ते मयं विचरिस्साम, गामा गामं नगा नगं,

- हम गांव-गांव और पर्वत-पर्वत पर विचरण करेंगे,

नमस्समाना सम्बुद्धं, धम्मस्स च सुधम्मतं।

- सम्यक संबुद्ध को नमस्कार करते हुए और धर्म की श्रेष्ठता का बखान करते हुए। (सु० नि० १८०-१८२, हेमवतसुत्त)

और इस प्रकार अनुत्तर शास्ता की और उनके सिखाये अनुत्तर धर्म की चर्चा दसो दिशाओं में फैलने लगी।

देवताओं के समूह-के-समूह भगवान से मिलने आने लगे। भगवान ने मध्य रात्रि के पश्चात एक पहर का समय उनके लिए नियत किया। देवता भगवान से प्रश्न करते थे और भगवान उन्हें संतोषजनक उत्तर देते थे। बहुतों का कल्याण होने लगा। बात और फैलने लगी; भीड़ और बढ़ने लगी। बड़े-बड़े ऋद्धिमान देवता भगवान को घेरे रहते, छुटभैयों की तो बारी ही नहीं आती थी, उनमें से कुछ तो भगवान के समीप तक नहीं पहुँच पाते थे। इससे संबंधित हम एक घटना देखते हैं-

आयुष्मान समृद्धि

राजगृह में गर्म पानी का एक सोता आज भी है; उन दिनों भी था। उसे उन दिनों 'तपोदा' कहते थे। युवा भिक्षु, आयुष्मान समृद्धि रात बीतने पर प्रत्यूष काल के समय तपोदा में नहाने गये। नहाने के बाद वहीं उनका संपर्क किसी देवता से हुआ, जिसने आयुष्मान समृद्धि को समझाया कि उनकी यह उम्र कामभोग का सुख भोगने के लिए है। इस उम्र में भिक्षु का जीवन नहीं जीना चाहिए। कामभोग से तृप्त होने के बाद भले भिक्षु बनें। इस युवावस्था को व्यर्थ नष्ट नहीं करना चाहिए।

मा तं कालो उपच्चगा - समय व्यर्थ मत गँवाओ।

आयुष्मान समृद्धि ने उत्तर दिया-

मा मं कालो उपच्चगा - मैं समय व्यर्थ नहीं गँवा रहा हूं।

आयुष्मान समृद्धि ने देवता को समझाया कि वह समय का सदुपयोग कर रहा है। वह ऐसा धर्म धारण करने का अभ्यास कर रहा है जो

सन्दिट्ठिको है, दूसरे शब्दों में जो काल्पनिक नहीं, सांदृष्टिक है, और जो **अकालिको** है, अर्थात तत्काल फलदायी है और इसी प्रकार धर्म की अन्यान्य विशेषताएं भी बतायीं। देवता को धर्म की यह व्याख्या नयी लगी, क्योंकि उसकी नजरों में तो धर्म वह है, जिसका पालन अब करो परंतु स्वर्गसुख के रूप में फल मरने के बाद भोगो। अतः उत्सुकतावश इस धर्म के बारे में और अधिक विवरण से जानने के लिए उसने समृद्धि से प्रश्न किये। समृद्धि ने सुझाव दिया कि अधिक व्याख्या वह स्वयं भगवान से ही प्राप्त करे। यह सुन कर उस देवता ने जो कहा, वह ध्यातव्य है।

देवता ने कहा –

न खो, भिक्खु, सुकरो सो भगवा अम्हेहि उपसङ्कमितुं।

– भिक्षु, हमारे लिए तो भगवान के समीप जाना भी दुष्कर है।

अञ्ञाहि महेसक्खाहि देवताहि परिवुतो। (सं० नि० १.१.२०, समिद्धिसुत्त)

– वे अन्य महातेजस्वी देवताओं से घिरे रहते हैं।

दूसरे दिन भिक्षु समृद्धि के बीच-बचाव से वह देवता भगवान के संपर्क में आ सका।

देवराज शक्र

और तो और, देवराज शक्र को भी भगवान से मिल सकने में कठिनाई होती थी। भगवान से मिलने वाले लोगों का तांता दिन भर लगा रहता था। इसकी सुव्यवस्था भगवान के निजी सहायक आनंद करते रहते थे। कब, किसे भगवान से मिलाना है – यह वे खूब जानते थे। पर आनंद के पास दिव्य-चक्षु तो थे नहीं। अतः रात के समय मिलने आने वाले देव-ब्रह्माओं को व्यवस्थित रूप से भगवान से मिलाने का काम आनंद नहीं कर सकते थे। लगता है, रात्रि की देव-सभा का काम बिना किसी निजी सहायक की सेवा के ही चलता था। इसीलिए देवों की अव्यवस्थित भीड़-भाड़ लगी रहती थी।

जो तेजस्वी, ऋद्धिशाली देव थे, वे भगवान को घेरे रहते थे। छुटभैयों की बारी कभी-कभार आती थी। परंतु यदि देवराज शक्र आये, तो उसे प्राथमिकता देने के लिए सारे उपस्थित देवों को स्वतः तैयार हो जाना चाहिए था। लेकिन हो सकता है कि वह स्वयं इस भीड़-भाड़ में जाना पसंद न करता हो। अतः हम देखते हैं कि वह जब पहली बार भगवान से मिलने गया, तब देवों के मिलने के निश्चित समय को टाल कर दिन के समय गया, ताकि भगवान उसे एकांत में अकेले मिलें। उस समय भगवान की कुटिया के दरवाजे पर भुंजति नामक यक्षिणी हाथ बांधे खड़ी थी। वह महाराजा वैश्रवण की परिचारिका थी। शक्र ने उसे पहचाना और यह समझते हुए कि वह भगवान की सेवा में खड़ी है, उसने भुंजति से कहा –

अभिवादेहि मे त्वं, भगिनि, भगवन्तं।

– हे भगिनि, मेरी ओर से भगवान को अभिवादन करो।

और उन्हें कहो कि –

सक्को, भन्ते, देवानमिन्दो सामच्चो सपरिजनो भगवतो पादे सिरसा वन्दति। (दी० नि० २.३५२, सक्कपञ्हसुत्त)

– देवेंद्र शक्र अपने अमात्यों और परिजनों के साथ भगवान के चरणों में सिर नवा कर, वंदना करता है।

इस पर भुंजति ने शक्र को बताया कि इस समय भगवान समाधि में संलीन हैं, उनसे मिलना नहीं हो सकता। तब शक्र ने भुंजति से कहा कि भगवान जब समाधि से उठें, तब उन्हें मेरा नमन कहना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शक्र जब पहली बार भगवान के पास गया, तब उनसे मिल ही नहीं सका।

आगे चल कर भी हम देखते हैं कि एक बार देवेंद्र शक्र और असुरेंद्र वेरोचन भगवान से मिलने आये हैं। वे भी दिन में भगवान के दिवा-विहार के समय आये हैं और आकर भगवान की कुटिया के बाहर –

पच्चेकं द्वारबाहं निस्साय अट्ठंसु। (सं० नि० १.१.२५४, वेरोचनअसुरिन्दसुत्त)

– द्वार की चौखट के एक-एक किवाड़ से लग कर खड़े हो गये।

ऐसे ही एक बार दिन के दिवा-विहार के समय देवेंद्र शक्र के साथ सहम्पति ब्रह्मा आए और वह भी इसी प्रकार कुटिया के–

पच्चेकं द्वारबाहं निस्साय अट्ठंसु। (सं० नि० १.१.२६३, बुद्धवन्दनासुत्त)

– द्वार की चौखट के एक-एक किवाड़ से लग कर खड़े हो गये। भगवान से एकांत में मिलने का उन्हें वही समय उचित लगा।

मानव और देव

मानव और देव विभिन्न जाति के प्राणी हैं। दोनों की प्रकृतिप्रदत्त धातु में अंतर है। धातु कहते हैं स्वभाव-तरंगों को।

अत्तनो सभावं धारेन्तीति धातुयो (विसुद्धि० २.५१८, धातुवित्थारकथा) – अपना स्वभाव धारण करती हैं, इस माने में धातु कहलाती हैं।

विभिन्न लोकों की और वहां के प्राणियों की अपनी-अपनी धातु तरंगें हैं जो एक दूसरे से भिन्न हैं। मनुष्यों की धातु तरंगों में जो विशिष्ट गंध होती है, वह देवलोक के प्राणियों के लिए असह्य होती है। भूमट्ठ यानी भूमस्थ देव, मानवों से बहुत घुले-मिले रहते हैं। अतः वे मानवी धातु-तरंगों से इतने विचलित नहीं होते। परंतु आकासट्ठ (आकाशस्थ) देवलोकों के देव इनसे दूर रहना चाहते हैं। उन्हें इन मानवी तरंगों की दुर्गंध सहन नहीं होती।

एवमेव खो, राजञ्ञ, मनुस्सा देवानं – इसी प्रकार हे राजन, देवों के लिए मनुष्य (धातु) –

असुची चेव असुचिसङ्खाता च, दुग्गन्धा च दुग्गन्धसङ्खाता च, जेगुच्छा च जेगुच्छसङ्खाता च, पटिकूला च पटिकूलसङ्खाता च – अपवित्र है, दुर्गंधमय है, घृणास्पद है, प्रतिकूल है।

योजनसतं खो, राजञ्ञ, मनुस्सगन्धो देवे उब्बाधति।

(दी० नि० २.४१५, पायासिसुत्त)

– हे राजन! एक सौ योजन की दूरी से भी देवों को मनुष्य-गंध सताती है।

मातलि

देवराज शक्र का सारथि मातलि जब यह देखता है कि शक्र मानवी भिक्षु संघ को नमस्कार करता है, तब उसे आश्चर्य होता है।

भगवान बुद्ध का समय वैदिक काल से सटा हुआ है। उन दिनों देवराज शक्र (इंद्र) को लोग सबसे महत्वपूर्ण देवता के रूप में पूजते थे। अतः उल्टे इंद्र द्वारा मनुष्यों को पूजित देख कर मातलि को स्वाभाविक आश्चर्य हुआ और वह पूछ बैठा –

तं हि एते नमस्सेय्युं – आपको यही लोग नमस्कार किया करते हैं जो कि –

पूतिदेहसया नरा – गंदे शरीर वाले मनुष्य हैं, जो कि –

निमुग्गा कुणपम्हेते – कुणप में (माता की गंदी कोख में नौ महीने) निमग्न रहते हैं।

खुप्पिपाससमप्पिता – जो भूख-प्यास के अधीन रहते हैं।

(सं० नि० १.१.२६६, सक्कवन्दनासुत्त)

देव-ब्रह्मलोक के प्राणी **पीतिभक्खी** होते हैं। दूसरे शब्दों में प्रीति-प्रमोद रूपी आहार ही ग्रहण करते हैं, जबकि मनुष्य स्थूल, भौतिक आहार लेते हैं, जिसके कारण उनके शरीर से मल, मूत्र, पसीना आदि अशुचि और दुर्गंध निकलती रहती है। यह देवलोक के प्राणियों के लिए असह्य होती है।

भगवान की मानवीय रूपकाया भी इसी प्रकार **पूतिकाया** है, अशुचिपूर्ण काया है, फिर भी इतनी संख्या में देव-ब्रह्मा उनके समीप क्यों आते हैं? इसका कारण समझें। धातु-तरंगें केवल भौतिक शरीर की ही नहीं होतीं, अपितु चित्त और चित्त-संतति की भी होती हैं, अर्थात नाम-काया की भी होती हैं। संतों की नाम-काया पवित्र हो जाती है। अतः उनकी धातु-तरंगें शरीर की धातु-तरंगों से अधिक तेज होने के कारण शरीर की

दुर्गंध को दबा देती हैं और अत्यंत प्रिय लगने लगती हैं। शरीर की दुर्गंध चित्त की पवित्रता की सुगंध से मिल कर सुगंधित हो उठती है। इसे ही लक्ष्य करता हुआ देवराज शक्र कहता है–

गन्धो इसीनं चिरदिक्खितानं – चिर काल से (धर्म में) दीक्षित ऋषियों की गंध,

काया चुतो गच्छति मालुतेन – जब काया से निकल कर हवा के साथ आती है,

तब दुर्गंध लगने के बजाय–

सुचित्रपुप्फं सिरस्मिंव मालं – सिर पर धारण किये हुए सुंदर फूलों की माला की भांति,

गन्धं एतं पटिकङ्खाम भन्ते – उस गंध की हमें चाह बनी रहती है, भंते।

न हेत्थ देवा पटिकूलसञ्जिनो – देवों को यह गंध कभी प्रतिकूल नहीं लगती।

(सं० नि० १.१.२५५, अरञ्ञायतनइसिसुत्त)

चित्त-धारा श्रेष्ठ गुणों से भर जाय तो उसकी धातु-तरंगें सुगंध से भर जाती हैं और प्रिय लगने लगती हैं। शास्ता तो सम्यक संबुद्ध थे। उनकी चित्त-धारा तो परम श्रेष्ठता से भर चुकी थी, इसीलिए वे **अनोमनाम** कहलाते थे। उनकी चित्त-धारा परम सत्यता से भर चुकी थी, इसीलिए वे **सच्चनाम** कहलाते थे। करुणा और मैत्री से भरी हुई उनकी चित्त-धारा की धातु-तरंगें परम सुगंध से भर चुकी थीं। इसी कारण जिस किसी कुटी में विहार करते थे, वह गंधकुटी बन जाती थी। सारा देव-समाज, जो साधारणतया पूति-देहधारी मनुष्यों से दूर रहना चाहता था, वह मानव शास्ता की ओर खिंचा चला आता था। बल्कि स्थिति बदल गयी थी। शास्ता की धातु-तरंगें इन देव-ब्रह्माओं की तरंगों से अधिक पवित्र थीं। इसीलिए संभवतः देव-ब्रह्मा जब भगवान के समीप आते थे, तब उन्हें स्पर्श नहीं करते थे, कुछ दूर रह कर उन्हें नमस्कार करते थे। कुटी के दरवाजों के किवाड़ों से लग कर खड़े हुए देवराज इंद्र और सहम्पति ब्रह्मा को हमने देखा है।

सूचिलोम

यक्ष सूचिलोम ने भगवान को जांचना चाहा कि वे सही श्रमण हैं या नहीं। अतः वह भगवान के–

उपसङ्कमित्वा भगवतो कायं उपनामेसि।

– समीप आकर (जान बूझकर) भगवान के शरीर से टकरा गया।

अथ खो भगवा कायं अपनामेसि – इस पर भगवान ने अपने शरीर को पीछे खींच लिया।

यह देख कर यक्ष सूचिलोम बोला–

भायसि मं समण – हे श्रमण, क्या मुझसे डर गये?

भगवान ने उत्तर दिया–

न ख्वाहं तं, आवुसो, भायामि – नहीं, आयुष्मान, मैं तुमसे डरा नहीं।

अपि च ते सम्फस्सो पापको – परंतु तुम्हारा स्पर्श पापमय है, बुरा है।

(सं० नि० १.१.२३७, सूचिलोमसुत्त)

जिन प्राणियों की धातु-तरंगें पापजन्य हों, उनकी धातु-तरंगें भगवान की परम परिशुद्ध, धर्म-धातु-जन्य, निर्वाण-धातुजन्य तरंगों से कैसे मेल खातीं भला! इसीलिए भगवान की शुद्ध धातु-तरंगों तक कोई देव-ब्रह्मा भी नहीं पहुँच पाता था। इस बेचारे मामूली यक्ष का तो कहना ही क्या? यही कारण था कि अन्य ऋद्धिशाली देवता भी भगवान से मिलने आने पर उनके समीप आकर कुछ दूरी पर ही रुक जाते थे। भगवान के शरीर से सटते नहीं थे। देवता भगवान के कितने समीप जायँ, उसकी एक मर्यादा थी। हम देखते हैं कि जब गंधर्व पंचशिख भगवान के पास आया तब उसने यह मर्यादा ध्यान में रखी। वह वहां तक गया–

एत्तावता मे भगवा नेव अतिदूरे भविस्सति नाच्चासन्ने।

– जहां से भगवान न अति दूर थे और न अति समीप।

और जहां से–

सद्दञ्च मे सोस्सति – मेरी आवाज सुनी जा सके।

(दी० नि० २.३४७, सक्कपञ्हसुत्त)

इसी कारण देवराज शक्र और सहम्पति ब्रह्मा तक भी भगवान की कुटिया के चौखट के पास ही खड़े रह जाते थे।

हम देखते हैं कि जो समूह के समूह देवगण भगवान को नमन, वंदन करने आते हैं वे सब-के-सब –

दूरतो व नमस्सन्ति (दी० नि० ३-२७८, आटानाटियसुत्त)

– दूर से ही नमस्कार करते हैं।

स्थिति किस प्रकार बदल गयी। जो अपनी गंदी धातु-तरंगों के कारण देवताओं के लिए अस्पृश्य था, वही मनुष्य अरहंत बन कर, तथागत बन कर इस अवस्था पर पहुँच गया, जहां देवता और ब्रह्मा उसके लिए अस्पृश्य हो गये।

यह मनुष्य की महिमा है कि साधना द्वारा वह विद्याचरणसंपन्न सम्यक संबुद्ध बन जाता है और इस प्रकार केवल मनुष्यों में ही नहीं, बल्कि सभी देव-मनुष्यों में श्रेष्ठ हो जाता है –

विज्जाचरणसम्पन्नो, सो सेट्ठो देवमानुसे। (दी० नि० १.२७७, अम्बट्ठसुत्त)

मानव इन ऊंचाइयों को प्राप्त कर सकता है इसीलिए भगवान ने कहा –

मनुस्सत्तं खो, भिक्खु, देवानं सुगतिगमनसङ्खातं।

(इतिवु० ८३, पञ्चपुब्बनिमित्तसुत्त)

– हे भिक्षु, देवताओं के लिए मनुष्यत्व प्राप्त करना, उनका सुगतिगमन कहा जाता है।

इसी कारण कोई कोई देवता मनुष्य योनि में जन्म लेने की स्पृहा करते हैं। किसी एक प्रसंग में देवता यमराज कहता है –

अहो वताहं मनुस्सत्तं लभेय्यं – अहो, मुझे मनुष्य योनि में जन्म मिले।

और यह जन्म उस समय मिले जबकि मनुष्य लोक में अरहंत सम्यक संबुद्ध तथागत भी उत्पन्न हुए हों।

सो च मे भगवा धम्मं देसेय्य – जहां कि वे भगवान मुझे धर्म का उपदेश दें।

तस्स चाहं भगवतो धम्मं आजानेय्यं – और मैं उन भगवान के उपदेश को जानूं।

ऐसा उपदेश जिसे कि वे किसी से सुन- सुना कर नहीं देते, बल्कि जिसे उन्होंने –

सामं ञातं, सामं दिट्ठं, सामं विदितं – स्वयं जाना है, स्वयं देखा है, स्वयं अनुभव किया है। (अ० नि० १.३.३६, देवदूतसुत्त)

ऐसा सम्यक संबुद्ध मनुष्य लोक छोड़ कर और कहां हो सकता है?

: इसीलिए जब कोई देवता आयु समाप्त होने पर मरणासन्न होता है तब अन्य देवता उसकी मंगल-कामना करते हुए कहते हैं –

इतो भो सुगतिं गच्छं, मनुस्सानं सहब्यतं। (इतिवु० ८३, पञ्चपुब्बनिमित्तसुत्त)

– भो, तुम्हारी सद्गति हो, तुम मनुष्य योनि प्राप्त कर मनुष्यों के साथ जीओ।

मनुष्य ही सम्यक संबुद्ध जैसी ऊंचाइयों को प्राप्त कर सकता है। इसीलिए मनुष्यों की गंध असह्य होने के कारण उनसे सौ योजन दूर रहने वाले देव-ब्रह्म, सम्यक संबुद्ध की धर्मकाया की सुरभि के कारण, उनके समीप खिंचे चले आते थे। भले ही उनको स्पर्श नहीं कर पाते थे और उनसे जरा दूर रह कर ही उन्हें नमन करते थे।

चार लोकपाल महाराजा

हम देखते हैं कि ब्रह्मा और शक्र के अतिरिक्त उन दिनों के अत्यंत पूज्य, चारों दिशाओं के चारों लोकपाल महाराजा अपने अनेक पुत्रों और साथियों सहित भगवान की सेवा में उपस्थित होते हैं –

गन्धब्बानं अधिपति, धतरट्ठोति नामसो – गंधर्वों का अधिपति, जिसका नाम धृतराष्ट्र है।

कुम्भण्डानं अधिपति, विरूळ्होइति नामसो – कुम्भांड देवों का अधिपति, जिसका नाम विरूढ़क है।

नागानञ्च अधिपति, विरूपक्खोति नामसो – नागों का अधिपति, जिसका नाम विरूपाक्ष है।

यक्खानञ्च अधिपति, कुवेरो इति नामसो – यक्षों का अधिपति, जिसका नाम कुबेर है।

वे सब के सब नाचगान की रासलीला में निरंतर निमग्न रहने के अपने धातुगत स्वभाव के कारण–

रमती नच्चगीतेहि – नृत्य और गीत में रमण करते हुए आते हैं, और

दूरतोव नमस्सन्ति – वे भगवान को दूर से ही नमस्कार करते हुए कहते हैं–

नमो ते पुरिसाजञ्ञ, नमो ते पुरिसुत्तम।

– हे पुरुषश्रेष्ठ, पुरुषोत्तम, हम आपको नमस्कार करते हैं।

कुसलेन समेक्खसि, अमनुस्सापि तं वन्दन्ति।

– आप कुशलपूर्वक समीक्षण करते हैं, इस कारण अमनुष्य अर्थात देवता भी आपकी वंदना करते हैं।

जिनं वन्दथ गोतमं, जिनं वन्दाम गोतमं।

– (हे देवगण) तुम भी इन जिन गौतम की वंदना करो, हम भी इन जिन गौतम की वंदना करते हैं।

विज्जाचरणसम्पन्नं, बुद्धं वन्दाम गोतमं।

(दी० नि० ३.२७८-२८१, आटानाटियसुत्त)

– हम बुद्ध की वंदना करते हैं, जो विद्याचरणसंपन्न हैं।

देवताओं के प्रश्नोत्तर

बहुत से देवता केवल वंदना करने ही नहीं आते थे बल्कि भगवान से धर्म-चर्चा करने और धर्मसंबंधी प्रश्नोत्तर करने भी आते थे। हम इन देवों पर और इनके प्रश्नों पर दृष्टिपात करते हैं, तो देखते हैं कि कैसे भिन्न-भिन्न मानसिक धरातल वाले देवता भगवान के पास आया करते थे। मनुष्य-भव में दान-पुण्य आदि के कारण स्वर्ग को प्राप्त हुए देवता उसी को महत्त्व देते थे। भगवान उन्हें धर्म की ऊंची अवस्था समझाते थे।

एक देवता ने भगवान से कहा–

अच्चेन्ति काला तरयन्ति रत्तियो – समय वीतता जा रहा है, रातें सरकती जा रही हैं,

वयोगुणा अनुपुब्बं जहन्ति – क्रमशः उम्र की मंजिलें वीतती जा रही हैं।

एतं भयं मरणे पेक्खमानो – (सामने आ रही) मृत्यु के इस भय को देखते हुए,

पुञ्ञानि कयिराथ सुखावहानि – सुख देने वाले पुण्य के काम करें।

भगवान ने देवता की इस गाथा को दोहराते हुए, उसके अंतिम चरण को बदल दिया और कहा–

लोकामिसं पजहे सन्तिपेक्खो – जिसे शांति चाहिए, वह सांसारिक भोग त्यागे।

(सं० नि० १.१.४, अच्चेन्तिसुत्त)

जब तक सांसारिक भोग में लगा रहता है, तब तक लोकचक्र ही चलता रहता है। लोकोत्तर निर्वाणिक शांति प्राप्त नहीं कर सकता।

एक अन्य देवता ने कहा–

यो धम्मलद्धस्स ददाति दानं – जो धर्मपूर्वक कमाये हुए धन का दान देता है,

उट्ठानवीरियाधिगतस्स जन्तु – जो परिश्रमपूर्वक अधिगत किये हुए धन का दान देता है,

अतिक्कम्म सो वेतरणिं यमस्स - वह यम की वैतरणी का अतिक्रमण कर लेता है, उसके पार हो जाता है।

दिब्बानि ठानानि उपेति मच्चो - वह मर्त्य प्राणी देवलोक प्राप्त कर लेता है।

अवश्य यह देवता मनुष्य लोक को मर्त्य और देवलोक को अमर मान बैठा है। अतः इस अंतिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए दान देने का सुझाव देता है।

भगवान ने उसे समझाया -

सद्धा हि दानं बहुधा पसत्थं - श्रद्धा से दिया गया दान सचमुच प्रशंसनीय है।

परंतु इससे भी श्रेष्ठतर कुछ और है -

दाना च खो धम्मपदंव सेय्यो - दान से श्रेष्ठतर है, धर्मपथ पर चलना, अर्थात शील, समाधि, प्रज्ञा का अभ्यास करना।

पुब्बे च हि पुब्बतरे च सन्तो - निकट पूर्व काल में और सुदूर पूर्व काल में संत,

निब्बानमेवज्झगमुं सपञ्ञा - प्रज्ञा द्वारा निर्वाण प्राप्त करते थे।

(सं० नि० १.१.३३, साधुसुत्त)

भगवान उन देवों को समझाते थे कि मनुष्य-जीवन का लक्ष्य दान द्वारा स्वर्ग प्राप्त कर लेना ही नहीं है, प्रत्युत प्रज्ञा द्वारा विमुक्ति प्राप्त कर लेना है।

अपने सीमित ज्ञान के कारण किसी एक देवता ने भगवान से कहा -

नत्थि सूरियसमा आभा - सूर्य के समान कोई आभा नहीं है।

यह सुन कर भगवान ने कहा -

नत्थि पञ्ञासमा आभा - प्रज्ञा के समान कोई आभा नहीं है।

(सं० नि० १.१.१३, नत्थिपुत्तसमसुत्त)

किसी एक वर्णवादी ने कहा -

खत्तियो द्विपदं सेट्ठो - मनुष्यों में क्षत्रिय श्रेष्ठ है।

तो भगवान ने उसे सुधारते हुए कहा -

सम्बुद्धो द्विपदं सेट्ठो - मनुष्यों में संबुद्ध श्रेष्ठ हैं।

(सं० नि० १.१.१४, खत्तियसुत्त)

जब कोई देवता धर्मसंबंधी श्रेष्ठ बात कहता था तब भगवान उसके कथन में कुछ और अच्छी बात जोड़ कर उसे श्रेष्ठतर बना देते थे।

देवता शिव ने भगवान के पास आकर कहा -

सत्पुरुषों की संगत करके सत्पुरुषों से मेल-जोल बढ़ाये।

सत्पुरुषों से सद्धर्म सीखे। इससे -

सेय्यो होति न पापियो - भला ही होता है, बुरा नहीं।

पञ्ञा लब्भति नाञ्ञतो - प्रज्ञा ही प्राप्त करता है, कुछ अन्य नहीं।

सोकमज्झे न सोचति - शोकमय अवस्था के बीच रहते हुए भी शोकमुक्त रहता है।

ञातिमज्झे विरोचति - बंधु-बांधवों के बीच शोभायमान होता है।

सत्ता गच्छन्ति सुग्गतिं - प्राणी सद्गति को प्राप्त होते हैं।

सत्ता तिट्ठन्ति सातत्तं - प्राणी सुखी रहते हैं।

भगवान ने देवता शिव के इन सुभाषितों में एक बात और जोड़कर कहा -

सब्बदुक्खा पमुच्चति - सारे दुःखों से विमुक्त हो जाता है।

(सं० नि० १.१.१०२, सिवसुत्त)

जन्म-मरण के भवचक्र से छूट जाता है। सत्संगत के अन्यान्य लाभ तो हैं ही, उसका अंतिम ध्येय यही होना चाहिए।

तायन नाम का देवता अपने पूर्वजन्म में एक तीर्थंकर था। उसने भगवान के पास आकर एक सुभाषित कहा -

छिन्द सोतं परक्कम्म, कामे पनुद ब्राह्मण।

– पराक्रम करके भवस्रोत को काट दे; ब्राह्मण काम-वासना को दूर करे।

नप्पहाय मुनी कामे, नेकत्तमुपपज्जति। (सं० नि० १.१.८९, तायनसुत्त)

– काम-वासना त्यागे बिना मुनि को एकाग्रता प्राप्त नहीं हो सकती।

तायन देवता के इस मुक्ति-विधायक कथन की भगवान ने सराहना की।

कोई-कोई देवता शुद्ध मुमुक्षु-भाव से बहुत समझदारी के प्रश्न करते थे।

एक देवता ने पूछा –

अन्तोजटा बहिजटा, जटाय जटिता पजा।
तं तं गोतम पुच्छामि, को इमं विजटये जटं॥

– भीतर भी जटा, बाहर भी जटा; जटा में उलझी हुई है यह प्रजा। इसलिए हे गौतम, मैं आपसे पूछता हूं कि इस जटा को कौन सुलझा सकता है?

भगवान ने उस देवता को समझाया –

सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो, चित्तं पञ्ञञ्च भावयं।
आतापी निपको भिक्खु, सो इमं विजटये जटं॥

(सं० नि० १.१.२३, जटासुत्त)

– शील पर प्रतिष्ठित होकर कोई समझदार व्यक्ति समाधि और प्रज्ञा का अभ्यास करता है तो ऐसा परिपक्व तपस्वी साधक इस जटा को सुलझा लेता है।

एक अन्य मुमुक्षु देवता ने भगवान से पूछा –

कथं दुक्खा पमुच्चति – दुःख-विमुक्ति कैसे होती है?

भगवान ने उसे समझाया –

पञ्चकामगुणा लोके, मनोछट्ठा पवेदिता।

– संसार में पांच काम गुण हैं और छठा मन कहा गया है,

यानी पांच इंद्रियां और एक मन।

एत्थ छन्दं विराजेत्वा, एवं दुक्खा पमुच्चति।

(सं० नि० १.१.३०, एणिजङ्घसुत्त)

– इनमें उत्पन्न हुई तृष्णा दूर करके दुःख-विमुक्त हो जाता है।

एक अन्य देवता ने पूछा –

किंसु जनेति पुरिसं, किंसु तस्स विधावति?

– मनुष्य को कौन जन्म देता है? कौन उसे दौड़ाता है, अर्थात भव-भ्रमण करवाता है?

भगवान ने समझाया –

तण्हा जनेति पुरिसं, चित्तमस्स विधावति। (सं० नि० १.१.५५, पठमजनसुत्त)

– तृष्णा मनुष्य को जन्म देती है, चित्त उसे दौड़ाता है, अर्थात भव-भ्रमण करवाता है।

एक और मुमुक्षु देवता ने पूछा –

कुतो सरा निवत्तन्ति, कत्थ वट्टं न वत्तति।

– संसार-सरिता कहां जाकर रुक जाती है, कहां भवचक्र का प्रवर्तन नहीं होता?

भगवान ने समझाया –

यत्थ आपो च पथवी, तेजो वायो न गाधति।
अतो सरा निवत्तन्ति, एत्थ वट्टं न वत्तति॥

–जहां पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु नहीं टिक सकते, वहां संसार-सरिता रुक जाती है, वहां भवचक्र-प्रवर्तन नहीं हो पाता।

एत्थ नामञ्च रूपञ्च, असेसं उपरुज्झति। (सं० नि० १.१.२७, सरसुत्त)

– वहीं नाम और रूप पूर्णतया निरुद्ध हो जाते हैं।

भगवान के शांत-चित्त भिक्षुसंघ को देखकर विस्मित हुआ एक देवता भगवान से पूछ बैठा –

अरञ्ञे विहरन्तानं - ये निर्जन वन में विहार करते हैं,

सन्तानं ब्रह्मचारिनं - शांत हैं, ब्रह्मचारी हैं।

एकभत्तं भुञ्जमानानं - दिन में एक बार ही भोजन करते हैं,

केन वण्णो पसीदति - फिर भी इनके चेहरों पर इतनी रौनक कैसे है?

भगवान ने उत्तर दिया-

अतीतं नानुसोचन्ति - बीती हुई बातों का ये चिंतन नहीं करते,

नप्पजप्पन्ति नागतं - अनागत की अर्थात भविष्य की जल्पना नहीं करते, उसकी कल्पना नहीं करते।

पच्चुप्पन्नेन यापेन्ति - प्रत्युत्पन्न अर्थात वर्तमान का जीवन जीते हैं,

तेन वण्णो पसीदति - इसीलिए इनके चेहरे पर रौनक बनी रहती है।

(सं० नि० १.१.१०, अरञ्ञसुत्त)

प्राणी जब भूत और भविष्य की चिंताओं में डूबा रहता है, तब व्यथित रहता है। वर्तमान क्षण में जीना सीख लेता है, तो सुख से जीवन जीने की कला सीख लेता है। भगवान यही सिखाते थे। सतत सजग, अर्थात स्मृति और संप्रज्ञानयुक्त रहने की विपश्यना साधना सिखाते थे। जो भी इसका अभ्यास कर लाभान्वित होता था, वह प्रसन्न चित्त से हर्षोद्गार प्रकट करता था, जैसे यक्ष मणिभद्र ने कहा-

सतीमतो सदा भद्दं - सजग स्मृतिमान का सदा मंगल होता है।

सतिमा सुखमेधति - सजग स्मृतिमान हो, सुख प्राप्त करता है।

सतीमतो सुवे सेय्यो - सजग, स्मृतिमान का (प्रत्येक) भावी दिवस श्रेष्ठतर है।

वेरा च परिमुच्चति - वह वैर से सर्वथा विमुक्त हो जाता है।

भगवान बुद्ध ने इस सुभाषित में कुछ और जोड़ कर कहा-

यस्स सब्बमहोरत्तं, अहिंसाय रतो मनो।
मेत्तंसो सब्बभूतेसु, वेरं तस्स न केनचि॥

(सं० नि० १.१.२३८, मणिभद्दसुत्त)

- जिसका मन दिन-रात, सभी समय हिंसा से विरत है अर्थात जो अहिंसा धर्म का पालन करता है तथा सभी प्राणियों के प्रति मैत्री का भाव रखता है, वह वैर से सर्वथा विमुक्त होता है।

जो द्वेष-दुर्भावना से सर्वथा विमुक्त हो जाता है, वह वैरभाव से सर्वथा विमुक्त हो जाता है। परंतु इसके लिए विपश्यना साधना का अभ्यास करना होता है। महज बातों से कोई विमुक्त नहीं होता। मनुष्यों की भांति अनेक देवता भी बतरस के लोभी थे। उन्हें तप करने के लिए प्रेरित करते हुए भगवान ने कहा-

न यिदं भासितमत्तेन - केवल कहने भर से नहीं होता,

एकन्तसवनेन वा - और न ही केवल सुनने भर से।

अनुक्कमितवे सक्का, यायं पटिपदा दळ्हा।
याय धीरा पमुच्चन्ति, झायिनो मारबन्धना॥

(सं० नि० १.१.३५, उज्झानसञ्ञिसुत्त)

- ध्यानी के लिए जो यह मार के बंधन से मुक्त होने की सुदृढ़ प्रतिपदा है, उस पर क्रमशः चलने से ही मुक्ति प्राप्त होती है।

केवल वाणी-विलास और श्रुति-विलास से लक्ष्य-सिद्धि नहीं होती। इसके लिए दृढ़तापूर्वक परिश्रम करना होता है।

भगवान की यही वाणी दो हजार वर्ष बाद संत कबीर ने इन शब्दों में व्यक्त की-

"कथै बदै सुणै सब कोई।
कथै न होई, सुणै न होई, कीये होई॥"

अथवा-

कहै, सुनै कैसे पतिअइएं।
जब लगि तहां आप नहिं जइएं॥

धर्म की केवल चर्चा-परिचर्चा करके रह जायँ, तो मुक्ति का लाभ नहीं मिलता। उसके लिए भरपूर परिश्रम करना होता है। तभी कोई मुक्त अवस्था तक पहुँच पाता है। वाणी-विलास और श्रुति-विलास बड़ा अच्छा लगता है, क्योंकि सरल है, इसमें कोई मेहनत नहीं करनी होती। परंतु धर्म का अभ्यास करना कठिन होता है। शास्ता यही कठिन काम करवाते थे और इसी के लिए प्रेरणा देते थे।

सक्रिय अभ्यास करने में कठिनाइयां व्यक्त करते हुए कामद नामक देवपुत्र ने भगवान से कहा –

दुक्करं भगवा, सुदुक्करं भगवा – दुष्कर है भगवान, बहुत दुष्कर है।

दुल्लभा भगवा यदिदं तुट्ठि – दुर्लभ है भगवान, यह जो संतुष्टि है।

दुस्समादहं भगवा यदिदं चित्तं – कठिन है भगवान, इस चित्त को समाहित करना।

दुग्गमो भगवा विसमो मग्गो – दुर्गम है भगवान, यह विषम मार्ग।

भगवान ने सांत्वना देते हुए समझाया –

दुग्गमे विसमे वापि, अरिया गच्छन्ति कामद। (सं० नि० १.१.८७, कामदसुत्त)

– हे कामद, दुर्गम है, विषम है तो भी आर्य लोग इस पर चलते ही हैं।

जैसे अनेक मनुष्य वैसे ही अनेक देवता शास्ता के बताये मार्ग पर चले और उन्होंने परम सत्य का साक्षात्कार किया।

पर्जन्य देव की पुत्री कोकनदा ने अपने अनुभव प्रकट करते हुए कहा –

सुतमेव पुरे आसि, धम्मो चक्खुमतानुबुद्धो।

– जिस धर्म को चक्षुमान बुद्ध ने साक्षात्कार किया उसके बारे में पहले मैंने केवल सुना ही था,

साहं दानि सक्खि जानामि, मुनिनो देसयतो सुगतस्स।

(सं० नि० १.१.३९, पठमपज्जुन्नधीतुसुत्त)

– मुनि सुगत द्वारा उपदेशित उस धर्म को, अब मैं स्वयं साक्षात करके जान रही हूं।

शास्ता ने धर्म को केवल श्रुत-ज्ञान और चिंतन-ज्ञान तक सीमित रखना नहीं सिखाया, बल्कि उसे भावित करना सिखाया, धारण करना सिखाया। केवल सुनी-सुनायी बात के चिंतन से परम सुख निर्वाण का साक्षात्कार नहीं हो सकता। इसके लिए प्रमाद त्याग कर स्वयं ध्यान करना होता है। भगवान बार बार यही समझाते थे।

एक बार अनाथपिंडिक के जेतवन विहार में रात के समय बहुत से **सतुल्लपकायिक देव** भगवान से मिलने आये। तब भगवान ने उन्हें समझाते हुए कहा –

अप्पमत्तो हि झायन्तो, पप्पोति परमं सुखं।

– अप्रमत्त हो ध्यान करने वाला ही परम सुख निर्वाण की प्राप्ति करता है।

(सं० नि० १.१.३६, सद्धासुत्त)

एक सम्यक संबुद्ध और दूसरे सम्यक संबुद्ध के बीच के लंबे अंतराल में निर्वाण का दर्शन कराने वाला मुक्ति-दायक विपश्यना ध्यान लुप्त हो जाता है। जब भगवान ने इस खोये हुए विपश्यना ध्यान को पुनः खोज कर मुक्त अवस्था प्राप्त की, तब जो दीर्घायु देव थे, जिन्होंने पूर्व बुद्ध के समय मुक्त हुए लोग देखे थे और अब लंबे समय के बाद पुनः किसी को मुक्त हुआ देखा तो हर्ष के उद्गार प्रकट करते हुए कह उठे –

चिरस्सं वत पस्सामि, ब्राह्मणं परिनिब्बुतं। (सं० नि० १.१.१, ओघतरणसुत्त)

– अहो, चिरकाल के बाद ऐसे ब्राह्मण को देखता हूं जिसने निर्वाण प्राप्त कर लिया है, अर्थात जो नितांत विमुक्त हो गया है।

भगवान को स्वयं मुक्त हुआ देख कर तथा उनकी शिक्षा से अन्य कइयों को मुक्त हुआ देख कर अनेक समझदार देवताओं ने मोद और प्रसन्नता प्रकट की; भगवान और उनकी शिक्षा के प्रति प्रशस्ति-प्रशंसा प्रकट की।

एक बार वेण्डु (वेण्हु, अर्थात विष्णु) नामक देवता भगवान के पास आया और उसने भगवान के सम्मुख यह गाथा गायी –

सुखिताव ते मनुजा, सुगतं पयिरुपासिय।
युञ्जं गोतमसासने, अप्पमत्ता नु सिक्खरे॥

(सं० नि० १.१.९३, वेण्डुसुत्त)

– सुखी हैं वे मनुष्य जो सुगत की संगत करके शास्ता गौतम बुद्ध के शासन से अर्थात शिक्षा से जुड़ कर, अप्रमत्त हो, उस शिक्षा का पालन कर रहे हैं।

महासमय

हर एक सम्यक संबुद्ध के जीवन में एक ऐसा अवसर आता है जिसे महासमय कहते हैं। धर्मचक्र प्रवर्तित करने के बहुत समय बाद, जब शास्ता की शिक्षा का वर्चस्व लोगों में पर्याप्त मात्रा में स्थापित हो जाता है और जब देवों और मनुष्यों में उनकी प्रसिद्धि-प्रशस्ति खूब फैल जाती है, तब महासमय का अवसर आता है। उस समय लोक-लोक के देव-ब्रह्मा उनके दर्शनार्थ एकत्र होते हैं।

नये-नये अरहंत हुए पांच सौ शाक्य-पुत्रीय भिक्षुओं को साथ लिए हुए भगवान जब कपिलवस्तु के समीप हिमालय के महावन में विहार कर रहे थे तब महासमय का अवसर आया, और–

दसहि च लोकधातूहि देवता येभुय्येन सन्निपतिता होन्ति भगवन्तं दस्सनाय भिक्खुसङ्घञ्च।

(दी० नि० २.३३१, महासमयसुत्त)

– भगवान और भिक्षु संघ के दर्शनों के लिए दस लोकधातु, अर्थात दस चक्रवालों के देवता एकत्र हुए।

ये देवता–

इद्धिमन्तो जुतिमन्तो, वण्णवन्तो यसस्सिनो – ऋद्धिमान, द्युतिमान, सुंदर और यशस्वी हैं, और

मोदमाना अभिक्कामुं, भिक्खूनं समितिं वनं।

(दी० नि० २.३३६, महासमयसुत्त)

– वे मुदित मन से इस वन में भिक्षुओं के सम्मेलन में आये हैं। सबके सब इसी कामना से आये हैं कि–

पवुट्ठजातिमखिलं, ओघतिण्णमनासवं।
दक्खेमोघतरं नागं, चन्दंव असितातिगं॥

(दी० नि० २.३४०, महासमयसुत्त)

जन्म से मुक्त, मैल से मुक्त, भव से तीर्ण, आस्रव रहित, कालिमा रहित चंद्रमा-सदृश, नाग-सदृश भगवान बुद्ध का दर्शन करेंगे और उनके भिक्षु संघ का भी।

इस महान उद्देश्य से इस सभा में सुब्रह्मा, परमात्मा, सनत्कुमार, तिस्स आदि ब्रह्मा आये, महाब्रह्मा आये। देवराज शक्र आये और उनसे भाईचारा कर बलिपुत्र और प्रह्लाद सहित असुर आये। परस्पर मैत्रीपूर्ण और प्यार का भाव रखते हुए नाग और गरुड़ आये। चारों दिशाओं के चारों लोकपाल– महाराज धृतराष्ट्र, विरूढ़क, विरूपाक्ष और कुबेर दल-बल सहित आये और उन दिनों के अनेक प्रसिद्ध-प्रसिद्ध देवता जैसे पणाद, औपमन्यु, शक्र का सारथि मातलि, गंधर्व, चित्रसेन, देवपुत्र पंचशिख, महानाग, ऐरावण आये। मक्खलि गोसाल का शिष्य और प्रशंसक सहलिदेव भी आया। वरुण, सोम, अच्युत, हरि और विष्णु आये। अन्य अनेकानेक देव-ब्रह्मा आये।

आटानाटिय

इसी प्रकार हम देखते हैं कि जब आटानाटिय सूत्र की घोषणा हुई, तब चारों लोकपालों के मुखिया, यक्षराज, महाराज कुबेर ने भगवान के भिक्षु और भिक्षुणी, उपासक और उपासिकाओं की रक्षा में तत्पर इन देव सेनापतियों के नाम गिनाये–

इन्दो सोमो वरुणो च, भारद्वाजो पजापति।
चन्दनो कामसेट्ठो च, किन्नुघण्डु निघण्डु च॥

पनादो ओपमञ्ञो च, देवसूतो च मातलि।
चित्तसेनो च गन्धब्बो, नळो राजा जनेसभो॥
सातागिरो हेमवतो, पुण्णको करतियो गुळो।
सिवको मुचलिन्दो च, वेस्सामित्तो युगन्धरो॥
गोपालो सुप्परोधो च, हिरि नेत्ति च मन्दियो।
पञ्चालचण्डो आळवको, पज्जुन्नो सुमनो सुमुखो।
दधिमुखो मणि माणिवरो दीघो, अथो सेरीसको सह॥

(दी० नि० ३.२८३, आटानाटियसुत्त)

पिछले ढाई हजार वर्षों में, भारत के जन-समाज में, इनमें से कुछ देवों का उत्कर्ष हुआ, कुछ एक का अपकर्ष और बहुतों का तो नाम ही भुला दिया गया।

जो भी हो, महासमय के इस महासम्मेलन से यह सिद्ध होता है कि भगवान बुद्ध देव-ब्रह्माओं द्वारा अत्यंत पूजित-प्रतिष्ठित हो चुके थे और बहुतों के शास्ता भी थे।

देवराज शक्र

उनके शिष्यों में प्रमुख था – देवराज शक्र।

भगवान बुद्ध का जीवन काल, जैसा ऊपर कहा गया है, वैदिक युग से बिल्कुल सटा हुआ था। वैदिक युग में तब तक ब्रह्मा से ऊपर किसी ब्रह्म या परम ब्रह्म की अवधारणा नहीं हुई थी। उस युग में ब्रह्मा का ही बहुत महत्त्व था। तिपिटक में हम यत्र-तत्र ब्रह्म शब्द का प्रयोग हुआ देखते हैं। परंतु वह ब्रह्मा के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। यज्ञ-प्रधान वैदिक काल में ब्रह्मा से भी कहीं अधिक महत्त्व देवराज इंद्र यानी शक्र का था। शक्र जब पहली बार भगवान से मिलने गया तब वे समाधि में लीन थे। अतः उनसे मिल नहीं पाया। जब दूसरी बार गया, तब भी उनको समाधि में लीन देखा। परंतु इस बार उसका संकल्प भगवान से मिल कर ही जाने का था। देवताओं का शासक होने के कारण वह बहुधंधी था, इस कारण उसके लिए बहुत देर

तक प्रतीक्षा करना कठिन था। उसके साथ बेलवपंडु नामक वीणा लेकर पंचशिख गंधर्व आया था। ध्यानस्थ भगवान के पास सहसा जाना देवेंद्र ने उचित नहीं समझा। अतः जहां भगवान समाधिस्थ थे, उस वैदिक पर्वत की गुहा में पंचशिख को भेजा। वह उनके न अति दूर और न अति समीप खड़ा होकर अपनी वीणा बजाने लगा और गीत गाने लगा। वह वीणा के साथ सुर में सुर मिला कर गीत गाता था। सदा राग-रंग में अनुरंजित रहने वाला गंधर्व ही तो था। उसके पास राग-रंग के सिवाय और क्या संगीत होता! परंतु वह अपनी प्रेयसी सूर्यवर्चसा के प्रति स्वरचित प्रणय गीत गाने लगा। परंतु गायन की अंतिम कड़ी में उसने शाक्य-पुत्र भगवान बुद्ध की बात जोड़ दी।

सक्यपुत्तोव झानेन, एकोदि निपको सतो।
अमतं मुनि जिगीसानो, तमहं सूरियवच्छसे॥

– जैसे एकांतसेवी मुनि शाक्यपुत्र परिपक्व, स्मृतिमान हो, ध्यान द्वारा अमृत की कामना करते हैं, ऐसे ही हे सूर्यवर्चसे! मैं तुम्हारी कामना करता हूं।

यथापि मुनि नन्देय्य, पत्वा सम्बोधिमुत्तमं।
एवं नन्देय्यं कल्याणि, मिस्सीभावं गतो तया॥

(दी० नि० २.३४८, सक्कपञ्हसुत्त)

– जैसे मुनि संबोधि प्राप्त कर आनंदित होते हैं, वैसे ही हे कल्याणी, मैं तुम्हारा समागम कर आनंदित होऊंगा।

पंचशिख वाद्य और गायन में निपुण था। उसके गीत के स्वर के साथ वीणा का स्वर मिला हुआ था। भगवान की समाधि टूटी। उन्होंने पंचशिख से कुछ बातचीत की। उचित अवसर देख कर शक्र ने पंचशिख को आदेश दिया कि वह भगवान को यह निवेदन करे कि–

सक्को, भन्ते, देवानमिन्दो सामच्चो सपरिजनो भगवतो पादे सिरसा वन्दति।

– भंते, देवेंद्र शक्र अपने अमात्यों और परिजनों सहित भगवान के चरणों में शिर से वंदना करता है।

पंचशिख ने भगवान के सम्मुख यही दोहरा दिया। भगवान ने आशीर्वाद देते हुए कहा–

एवं सुखी होतु, पञ्चसिख, सक्को देवानमिन्दो सामच्चो सपरिजनो।

(दी० नि० २.३५०, सक्कपञ्हसुत्त)

– हे पंचशिख, देवेंद्र शक्र अपने अमात्यों और परिजनों सहित सुखी होवे।

देवेंद्र को भगवान से वार्त्तालाप करने का सुअवसर प्राप्त हो गया। उसने भगवान को बताया कि देवलोक में भगवान और उनकी शिक्षा तथा उस शिक्षा से प्राप्त हुए सत्फल की चर्चा होती रहती है और उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा भी।

ऐसी चर्चा सुन कर और उसी से प्रेरित होकर देवेंद्र शक्र भगवान के दर्शनार्थ आया था। उसने भगवान से धर्मसंबंधी छः प्रश्न पूछे। उनका यथोचित उत्तर पाकर अत्यंत संतुष्ट एवं प्रसन्न हुआ; उसका हृदय गद्गद हुआ। उसने कभी औरों से भी धर्मसंबंधी ये प्रश्न पूछे थे, पर तब उसे बड़ी निराशा हुई थी। उसने बताया–

विचरिं दीघमद्धानं, अन्वेसन्तो तथागतं। (दी० नि० २.३७०, सक्कपञ्हसुत्त)

– बहुत दिनों तक तथागत की अन्वेषणा में, खोज में भटकता रहा।

मैं किन्हीं-किन्हीं एकांतवासी श्रमणों को संबुद्ध समझ कर उनके पास चला जाया करता था, परंतु बार-बार निराशा ही हाथ लगती थी। उनसे जब पूछता था कि मुक्ति के लिए क्या करणीय है और क्या अकरणीय? मुक्ति की प्रतिपदा क्या है? तो मुझे कोई संतोषप्रद उत्तर नहीं मिलता था और जब वे तपस्वी मुझसे मेरा परिचय पूछ कर यह जान लेते कि मैं देवेंद्र शक्र हूं, तब वे उल्टे मुझसे ही प्रश्न करने लगते कि मुझे यह शक्र पद कैसे प्राप्त हुआ? तब मैं उन्हें अपनी जानकारी के अनुसार धर्म समझाता और इस प्रकार–

ते अञ्ञदत्थु ममंयेव सावका सम्पज्जन्ति, न चाहं तेसं।

(दी० नि० २.३६७, सक्कपञ्हसुत्त)

– वे मेरे शिष्य श्रावक बन जाते, न कि मैं उनका।

और फिर–

तेन अत्तमना होन्ति – वे इस बात से बड़े खुश होते, कि उन्होंने–

दिट्ठो नो वासवोति च – वासव (देवराज शक्र) का दर्शन कर लिया।

ऐसे तपस्वियों की तुलना में शक्र ने जब भगवान को देखा, तो पाया कि वे तो सचमुच–

तण्हासल्लस्स हन्तारं, बुद्धं अप्पटिपुग्गलं।

– तृष्णारूपी शूल को नष्ट करने वाले हैं, बुद्ध हैं, बेजोड़ हैं।

तो अपनी श्रद्धा प्रकट करते हुए कह उठा–

यं करोमसि ब्रह्मुनो, समं देवेहि मारिस।

– हे मान्यवर, अपने देवों के साथ जो (नमस्कार) मैं ब्रह्मा को किया करता था,

तदज्ज तुम्हं कस्साम, हन्द सामं करोम ते।

– वह नमस्कार मैं आज से आपको ही करूंगा।

अब उसकी तथागत की खोज पूरी हुई और वह अत्यंत भाव-विभोर होकर कह उठा–

त्वमेव असि सम्बुद्धो – आप ही संबुद्ध हैं,

तुवं सत्था अनुत्तरो – आप ही सर्वोत्तम शास्ता हैं,

सदेवकस्मिं लोकस्मिं – देवताओं सहित सारे लोक में,

नत्थि ते पटिपुग्गलो – आपका कोई जवाब नहीं, आपका कोई जोड़ नहीं।

अथ खो सक्को देवानमिन्दो – तब देवेंद्र शक्र ने,

पाणिना पथविं परामसित्वा तिक्खत्तुं – धरती को तीन बार छूकर,

उदानं उदानेसि – ये उल्लास-भरे प्रीति-वचन कहे,

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स।

– नमस्कार है उन भगवान अरहंत सम्यक संबुद्ध को।

यों पुलक-रोमांच से भर कर, जब यह गद्गद वाणी कही तब –

सक्कस्स देवानमिन्दस्स विरजं वीतमलं धम्मचक्खुं उदपादि –

– देवेंद्र शक्र को विरज, विमल धर्मचक्षु उत्पन्न हुए। उसने अनुभूति के स्तर पर यह सत्य जान लिया कि–

यं किञ्चि समुदयधम्मं, सब्बं तं निरोधधम्मन्ति।

(दी० नि० २.३७०-३७१, सक्कपञ्हसुत्त)

– जो कुछ उत्पाद स्वभाव वाला है, वह निरोध स्वभाव वाला भी है।

आर्य शक्र

यों अनार्य से आर्य हुआ शक्र अब बिल्कुल बदल गया। लगता है यह वज्रधारी शक्र पहले बड़ा क्रोधी था। अब उसका सारा क्रोध दूर हो गया।

भगवान के यह बोल उसके जीवन के संबल बन गये –

कोधं छेत्वा सुखं सेति, कोधं छेत्वा न सोचति।

(सं० नि० १.१.७१, छेत्वासुत्त)

– क्रोध को नष्ट कर सुख से सोता है, क्रोध का नाश कर शोकमुक्त होता है।

अब शक्र क्रोधमुक्त हो गया। तभी उसने कहा –

न वो चिराहं कुज्झामि – मुझे क्रोध किये जमाना बीत गया।

कोधो मयि नावतिट्ठति – अब मुझमें क्रोध टिक नहीं पाता।

कुद्धाहं न फरुसं ब्रूमि – न मैं क्रोध करता हूं और न कठोर वाणी बोलता हूं।

(सं० नि० १.१.२६८, दुब्बण्णियसुत्त)

स्वयं तो क्रोधमुक्त हुआ ही, वह अन्य देवों को भी क्रोध त्यागने का उपदेश देने लगा।

मा वो कोधो अज्झभवि – क्रोध तुम्हें न जीते! (तुम्हीं क्रोध पर प्रभुत्व स्थापित करो)।

(सं० नि० १.१.२७१, अक्कोधसुत्त)

बुद्ध-शिष्य शक्र यों बुद्ध-वाणी बोलने लगा।

बुद्ध-वंदना एवं संघ-वंदना

देवेंद्र शक्र के पुराने सारथि मातलि ने देखा, अब उसका मालिक वैजयंत महल से उतर कर, रथ पर सवार होने के पहले हाथ जोड़ कर नमस्कार करता है। मातलि यह देख कर हैरान होता था। आखिर उससे रहा नहीं गया तो पूछ बैठा –

यं हि देवा मनुस्सा च, तं नमस्सन्ति वासव।

– जिस आप शक्र को सारे देव और मनुष्य नमस्कार करते हैं, तो

अथ को नाम सो यक्खो, यं त्वं सक्क नमस्ससि।

– वह कौन यक्ष है जिसको आप शक्र नमस्कार करते हैं?

मातलि की उत्सुकता दूर करने के लिए शक्र ने उत्तर दिया –

यो इध सम्मासम्बुद्धो, अस्मिं लोके सदेवके।
अनोमनामं सत्थारं, तं नमस्सामि मातलि॥

– देवताओं सहित सारे लोक में इस समय जो सम्यक संबुद्ध हैं, श्रेष्ठ शास्ता हैं, मैं उन्हें नमस्कार करता हूं।

यह सुन कर मातलि बहुत प्रभावित हुआ और कह उठा –

अहम्पि ते नमस्सामि, ये नमस्ससि वासव।

(सं० नि० १.१.२६५, सत्थारवन्दनासुत्त)

– जिन (लोकश्रेष्ठ शास्ता को) वासव (शक्र) नमस्कार करते हैं, उन्हें मैं भी नमस्कार करता हूं।

देवराज इंद्र केवल भगवान बुद्ध को ही नमस्कार नहीं करता था, समय-समय पर भगवान के शिष्यों को भी नमस्कार करता था। यह देख कर मातलि फिर पूछ बैठा –

तं नमस्सन्ति तेविज्जा, सब्बे भुम्मा च खत्तिया।

– आपको त्रैविद्य ब्राह्मण नमस्कार करते हैं और धरती के सारे क्षत्रिय नमस्कार करते हैं, और –

चत्तारो च महाराजा, तिदसा च यसस्सिनो॥

(सं० नि० १.१.२६४, गहट्ठवन्दनासुत्त)

– ये चारों देवता, जो कि चारों दिशाओं के यशस्वी महाराज हैं, वे भी आपको नमस्कार करते हैं, तो फिर आप और किन्हें नमस्कार करते हैं?

शक्र ने जवाब दिया, भगवान के जो चिरकाल से प्रव्रजित शीलसंपन्न श्रावक हैं उनको और जो शीलवान रह कर परिवार पालने वाले गृहस्थ श्रावक हैं, उनको नमस्कार करता हूं।

किसी अन्य अवसर पर मातलि ने फिर प्रश्न किया कि यह जो मां के गर्भ की गंदगी में पड़े रह कर जन्मते हैं और भूख- प्यास से प्रपीड़ित रहते हैं और जो स्वयं आपको पूजते हैं, उन गंदे शरीर वाले मनुष्यों को आप भला क्यों पूजते हैं?

त्यागी, शीलवान भिक्षुओं के गुण गाता हुआ शक्र, मातलि को इस पूजन का कारण समझाता है।

जिन भगवान बुद्ध और उनके शिष्यों को स्वयं शक्र नमस्कार करता था, उनके प्रति अन्य देवताओं का श्रद्धालु हो जाना स्वाभाविक था। एक बार भगवान के शिष्य महामोग्गल्लान तावतिंस देवलोक गये तब –

निसीदि खो आयस्मा महामोग्गल्लानो पञ्ञत्ते आसने।

– आयुष्मान मोग्गल्लान बिछे आसन पर बैठ गये।

उनके प्रति सम्मान प्रकट करता हुआ –

सक्कोपि खो देवानमिन्दो अञ्ञतरं नीचं आसनं गहेत्वा एकमन्तं निसीदि।

– देवेंद्र शक्र भी एक नीचा आसन लेकर एक ओर बैठ गया।

महामोग्गल्लान महाऋद्धिवान थे। उस अवसर पर देवलोकवासियों ने महामोग्गल्लान की ऋद्धि देखी और उससे बहुत प्रभावित हुए। महामोग्गल्लान के लौट जाने के बाद शक्र की दासियों ने शक्र से पूछा, क्या यही आपके गुरु थे?

तब शक्र ने उत्तर दिया – नहीं, यह मेरे गुरु नहीं, मेरे गुरुभाई महामोग्गल्लान थे। यह सुन कर दासियां चकित होकर बोलीं –

यस्स ते सब्रह्मचारी एवंमहिद्धिको एवंमहानुभावो,

– जबकि आपके गुरुभाई ऐसे महाऋद्धिवान और महानुभाव हैं,

अहो नून ते सो भगवा सत्था। (म० नि० १.३९१,३९४, चूळतण्हासङ्खयसुत्त)

– अहो, तो सचमुच आपके शास्ता भगवान (कैसे होंगे)?

अपने शास्ता भगवान बुद्ध की प्रशंसा करते हुए एक बार देवेंद्र शक्र ने कहा –

एवं ओपनेय्यिकस्स धम्मस्स देसेतारं,

– यों निर्वाण के समीप ले जाने वाले धर्म के उपदेशक,

इमिनापङ्गेन समन्नागतं सत्थारं – और अन्यान्य धर्म अंगों से संपन्न शास्ता,

नेव अतीतंसे समनुपस्साम, न पनेतरहि अञ्ञत्र तेन भगवता।

(दी० नि० २.२९६, महागोविन्दसुत्त)

– (इन) भगवान को छोड़ कर न पहले कभी ऐसे किसी को देखा था और न ही आज देखता हूं।

भगवान के प्रति शक्र की श्रद्धा अटूट थी। देवों का राजा अपनी देव-मंडली सहित भगवान का शिष्य हो गया। यह अपने आपमें बहुत महत्त्वपूर्ण घटना थी। यही वह शक्र था, जिसके दर्शनों के लिए लोग लालायित रहा करते थे और जो उस युग का सर्वाधिक पूज्य देव था। यह जान, सुन कर लोगों को आश्चर्य होता था कि वह भगवान का श्रद्धालु

भक्त हो गया है और समय समय पर भगवान के दर्शनों के लिए मनुष्य लोक में आता रहता है।

लिच्छवियों का सेनापति महालि भगवान से मिलने आया। उसने नमन करके पूछा -

दिट्ठो खो, भन्ते, भगवता सक्को देवानमिन्दो?

- भंते, क्या भगवान ने देवेंद्र शक्र को देखा है?

भगवान ने उत्तर दिया -

दिट्ठो खो मे, महालि, सक्को देवानमिन्दो। (सं० नि० १.१.२५९, महालिसुत्त)

- हां महालि, मैंने देवेंद्र शक्र को देखा है।

सच ही है। जहां एक ओर लोग शक्र के दर्शन के लिए आतुर रहते थे, वहां दूसरी ओर शक्र भगवान के दर्शनों के लिए आतुर रहता था। अवसर देख कर मिलने आ ही जाता था। भगवान ने जो कहा, सच ही कहा।

निक्कामो निब्बनो नागो(नाथो), किस्स हेतु मुसा भणे?

(सु० नि० ११३७, पारायनानुगीतिगाथा)

- निष्काम हुए, निर्वाण-प्राप्त नाथ (भगवान बुद्ध) किसलिए झूठ बोलेंगे?

अब उनकी और क्या एषणा रह गयी जो उनसे झूठ बुलवायेगी?

देवेंद्र शक्र तो भगवान का शिष्य और प्रशंसक था ही, अन्य अनेक देवी-देवता भी भगवान के श्रद्धालु प्रशंसक हो गये। इसका कारण केवल यही नहीं था कि उनका शासक शक्र भगवान का शिष्य बन गया था। ये देवी-देवता स्वयं भी भगवान की धर्म-देशना सुनते थे और उससे प्रत्यक्ष प्रभावित और लाभान्वित होते थे। भगवान की कल्याणकारिणी धर्म-देशना सुनना उन्हें बहुत प्रिय लगता था। उसमें जरा भी विघ्न उन्हें सहन नहीं होता था। इस तथ्य को उजागर करता हुआ एक दृश्य हमारे सामने आता है -

एक बार भगवान श्रावस्ती के जेतवन-विहार में भिक्षुओं को निर्वाण तथा निर्वाणगामी पथ के संबंध में धर्मोपदेश दे रहे थे। उनकी वाणी अत्यंत

हृदयग्राही थी। भिक्षु दत्तचित्त होकर सुन रहे थे। कोई एक यक्षिणी उधर से गुजर रही थी। वह भी वहीं रुक गयी और भगवान का प्रवचन सुनने लगी। उसे बहुत रस आने लगा। यक्षिणी के साथ उसकी पुत्री उत्तरा और पुत्र पुनर्वसु था। बच्चे तो बच्चे थे, शोरगुल करने लगे। माता को यह अच्छा नहीं लगा। वह बच्चों को चुप कराती हुई बोली -

तुण्ही उत्तरिके होहि - अरी उत्तरिके, चुप हो जा,

तुण्ही होहि पुनब्बसु - अरे पुनर्वसु, चुप हो जा,

ताकि मैं श्रेष्ठ शाक्यपुत्र का धर्म-उपदेश सुन सकूं।

भगवान निर्वाण का उपदेश दे रहे हैं, जो सारी ग्रंथियां खोलने वाला है। इस समय इस धर्म में मेरी श्रद्धा बहुत बढ़ती जा रही है। संसार में पुत्र प्रिय होता है, पति प्रिय होता है, परंतु यह मुक्ति का मार्ग मुझे उनसे भी अधिक प्रिय लगता है। कोई भी पुत्र या पति या प्रिय जन दुःखों से मुक्त नहीं कर सकता, जैसे कि यह सद्धर्म प्राणियों को दुःखों से मुक्त कर देता है। इस जरा-मरण संयुक्त दुःखमय संसार में जरा-मरण से मुक्त हो सकने के लिए जिस धर्म का अभ्युदय हुआ है, उसे मैं सुनना चाहती हूं।

तुण्ही होहि पुनब्बसु - अरे पुनर्वसु, तू चुप हो जा।

पुनर्वसु ने उत्तर दिया -

अम्मा न ब्याहरिस्सामि - अम्मा, अब मैं नहीं बोलूंगा।

तुण्हीभूतायमुत्तरा - उत्तरा भी चुप है।

तू धर्म सुन। धर्म का सुनना तेरे लिए सुखकर है।

मां प्रसन्न होकर बोली -

साधु खो पण्डितो नाम, पुत्तो जातो उरेसयो।

- मेरी कोख से जन्मे हे पुत्र, तुम पंडित हो, समझदार हो, तुम धन्य हो।

धर्म सुनते-सुनते श्रद्धालु यक्षिणी को चारों आर्यसत्यों का साक्षात्कार हो गया, अर्थात वह स्रोतापन्न हो गयी, तो भाव-विभोर होकर बोल उठी -

पुनब्बसु सुखी होहि - हे पुनर्वसु, तुम सुखी होओ।

अज्जाहम्हि समुग्गता - आज मेरा उत्थान हुआ, उन्नयन हुआ।

दिट्ठानि अरियसच्चानि - आर्यसत्यों का दर्शन हुआ।

उत्तरापि सुणातु मे - उत्तरे, तू भी मेरी बात सुन।

(सं० नि० १.१.२४१, पुनब्बसुसुत्त)

हम देखते हैं कि घर-गृहस्थी की जिम्मेदारी में उलझी हुई एक यक्ष-माता भगवान के प्रवचनों से किस प्रकार प्रभावित होती है और लाभान्वित होती है।

ऐसे एक नहीं, न जाने कितने देवता भगवान की शिक्षा से प्रभावित और लाभान्वित हुए।

राहुल को उपदेश

जब भगवान ने राहुल को अंध-वन में ले जाकर धर्मोपदेश दिया, तब अनेक सहस्र देवता यह सोच कर उनके साथ हो लिए कि-

अज्ज भगवा आयस्मन्तं राहुलं उत्तरिं आसवानं खये विनेस्सति।

- आज भगवान आयुष्मान राहुल को आस्रवों के क्षय की ओर ले जाने वाली आगे की शिक्षा देंगे।

भगवान के प्रशिक्षण को देवताओं ने भी सुना। इससे राहुल ने अरहंत फल प्राप्त किया और-

तासञ्च अनेकानं देवतासहस्सानं विरजं वीतमलं धम्मचक्खुं उदपादि -

- उन अनेक सहस्र देवताओं को विरज, विमल धर्म-चक्षु उत्पन्न हुए, जिनसे वे जान सके कि-

यं किञ्चि समुदयधम्मं, सब्बं तं निरोधधम्मन्ति।

(म० नि० ३.४१६,४१९, चूळराहुलोवादसुत्त)

जो समुदय स्वभाव वाले हैं, वे सभी निरोध- स्वभाव वाले भी हैं। अर्थात निरोध का प्रथम साक्षात्कार कर स्रोतापन्न हुए।

प्रियंकर माता

देवताओं को भगवान के उपदेश प्रिय लगते थे और इससे उनका प्रत्यक्ष लाभ होता था। अतः उसमें किसी भी प्रकार का विघ्न उन्हें अच्छा नहीं लगता था।

भगवान की बतायी धर्म-शिक्षा उनके भिक्षु भी देते थे। देवता उसे भी इसी प्रकार सुनने को आतुर हो उठते थे। एक समय भिक्षु अनिरुद्ध जेतवन विहार में सुबह-सुबह धर्मपद का पाठ कर रहे थे। समीप ही एक यक्षिणी दत्तचित्त हो सुन रही थी। इतने में उसका बच्चा प्रियंकर शोर मचाने लगा। मां ने अपने पुत्र को चुप कराते हुए कहा-

मा सद्दं करि पियङ्कर - हे प्रियंकर, तू शोर मत कर।

भिक्षु धर्मपदों का पाठ कर रहा है। यदि हम धर्मपदों को जानें और उनके अनुसार जीवन जीएं तो हमारा हित होगा।

अपि मुच्चेम पिसाचयोनिया - हम भी इस पिशाच योनि से मुक्त हो जायेंगे।

(सं० नि० १.१.२४०, पियङ्करसुत्त)

शुक्रा

जिन देवों को भगवान के उपदेशों से लाभ हुआ, उनके मन में यह भाव जागना स्वाभाविक था कि ऐसा ही कल्याण औरों का भी हो। और यही हुआ। अनेक यक्ष और देव मनुष्यों को सद्धर्म की ओर प्रेरित करने में अपना सौभाग्य समझने लगे।

एक समय भगवान राजगृह के वेलुवन में विहार कर रहे थे। उन दिनों शुक्रा नाम की भिक्षुणी एक बड़ी जनसभा में धर्मोपदेश कर रही थी। लोग तन्मय होकर सुन रहे थे। शुक्रा के प्रति अतीव श्रद्धा रखने वाले एक यक्ष के मन में यह भाव जागा कि इस नगर के ज्यादा से ज्यादा लोग ऐसा कल्याणकारी धर्मोपदेश सुनें और अपना कल्याण साध लें। इसी **एहिपस्सिको** के भाव से प्रेरित होकर वह यक्ष-

राजगहे रथिकाय रथिकं

– राजगृह के एक रथ-पथ से दूसरे रथ-पथ पर अर्थात गली-गली में, सड़क-सड़क पर, और

सिङ्घाटकेन सिङ्घाटकं – चौराहे से चौराहे पर,

इन गाथाओं को गाता और लोगों को उद्‌बोधित करता हुआ घूमने लगा।

किं मे कता राजगहे मनुस्सा – अरे राजगृह के लोगो, तुम क्या कर रहे हो?

मधुपीताव सेयरे – क्या मदिरा पीकर सो रहे हो?

ये सुक्कं न पयिरुपासन्ति – अरे, शुक्रा भिक्षुणी के प्रवचन क्यों नहीं सुनते?

देसेन्ति अमतं पदं – जो अमृत पद निर्वाण का उपदेश दे रही है।

(सं० नि० १.१.२४३, पठमसुक्कासुत्त)

समझदार लोग उस अमृत का पान वैसे ही कर रहे हैं जैसे कि कोई प्यासा मुसाफिर मेघ के जल का पान करता है।

लोक कल्याण की कैसी उदात्त भावना जागी इस यक्ष में?

शिवक यक्ष

भगवान बुद्ध और उनकी शिक्षा से प्रभावित और लाभान्वित हुए यक्ष लोगों को कैसे भगवान की चरण-शरण लेने के लिए प्रोत्साहित करते थे, इसका एक और उदाहरण हमारे सामने आता है। श्रावस्ती का धनी सेठ अनाथपिंडिक किसी कार्य से राजगृह आया। वहां उसने सुना कि–

बुद्धो किर लोके उप्पन्नो – संसार में बुद्ध उत्पन्न हुए हैं।

उसने यह भी जान लिया कि इस समय वे नगर के बाहर विहार कर रहे हैं। वह उनके दर्शन के लिए आतुर हो उठा। रात का समय था। नगर के द्वार बंद थे। भोर होने पर खुलेंगे, तभी भगवान के दर्शनार्थ वह बाहर

जा सकेगा। लाचारी थी। वह बुद्ध का चिंतन करते-करते सो गया, पर उसके लिए रात बितानी कठिन हो गयी। भोर हो गया – समझकर रात में कई बार उठा। आखिरकार भोर होने के पहले ही आतुरतावश उठ कर चल पड़ा और नगर के श्मशान द्वार पर जा पहुँचा। यह दरवाजा उसे खुला मिला। नगर के बाहर निकलते ही उसने देखा, बहुत अंधेरा है, कहीं प्रकाश का नामोनिशान नहीं है। वह भयभीत हुआ। उसे बहुत घबराहट हुई और उसने उल्टे पांव लौटने का निर्णय किया। जब वहां के रहने वाले शिवक नामक यक्ष ने यह देखा तो उसके मन में करुणा जागी। गृहपति अनाथपिंडिक कहीं भगवान के दर्शनों से वंचित न रह जाय। अतः उसकी हिम्मत बढ़ाते हुए यक्ष ने आवाज लगायी–

अभिक्कम गहपति, अभिक्कम गहपति!

– हे गृहपति, आगे बढ़! हे गृहस्थ, आगे बढ़!

अभिक्कमनं ते सेय्यो – तेरे लिए अभिक्रमण यानी आगे बढ़ना ही श्रेयस्कर है।

नो पटिक्कमनं – न कि प्रतिक्रमण अर्थात पीछे हटना।

(सं० नि० १.१.२४२, सुदत्तसुत्त)

शिवक यक्ष ने गृहपति को इस प्रकार प्रोत्साहित कर लौटने से बचा लिया और उसे भगवान तक पहुँचा दिया। अनाथपिंडिक निहाल हो गया। यों ब्रह्मा, देव और यक्षों ने भगवान से धर्म सीख कर उनके लोक कल्याणकारी अभियान में सहयोग दिया। मनुष्यों और देवताओं में उनकी शिक्षा फैली और भगवान देव-मनुष्यों के शास्ता कहलाये।

राजा और प्रजा

देवमनुस्सानं का जहां एक अर्थ होता है – देवलोक के देवता और मनुष्यलोक के मनुष्य, वहां एक और अर्थ होता है – राजा और प्रजा। उन दिनों राज्य-शासक को भी देव कहते थे। देवलोक के देवताओं के साथ-साथ देश के अनेक शासक और उनकी प्रजा के लोग भी भगवान के

शिष्य हो गये थे। भगवान बहुतों के शास्ता थे। संसार का कोई भी अन्य धर्मगुरु अपने जीवनकाल में इतना पूज्य और प्रतिष्ठित नहीं हो पाया। भगवान सचमुच अनुपम शास्ता थे। शक्तिशाली से शक्तिशाली शासक और प्रजा के दुर्बल से दुर्बल व्यक्ति; धनी से धनी गृहस्थ और समाज के गरीब से गरीब दुखियारे भगवान की शिक्षा से प्रभावित हुए और सश्रद्ध उनके अनुगामी बन कल्याणलाभी हुए।

महाराज बिंबिसार

महाराज बिंबिसार काशी, अंग और मगध जनपद का अधिपति होने के कारण उन दिनों के महाप्रतापी शासकों में से एक था। बुद्धत्व प्राप्ति के पूर्व जब बोधिसत्त्व मगध की राजधानी में भिक्षाचारिका कर रहे थे, तभी महाराज बिंबिसार उनकी ओर आकर्षित हुआ। उसने उन्हें गृहत्यागी का जीवन छोड़ कर अपने साथ राजसी भोग भोगने का प्रलोभन दिया। पर असफल रहा। तब उनसे वचन लिया कि बुद्धत्व प्राप्त कर वे उसे धर्म-देशना देने उसकी राजधानी में अवश्य पधारेंगे। भगवान ने अपने वचनों का पालन किया। सम्यक संबोधि प्राप्त कर और धर्मचक्र प्रवर्तन कर वे राजगृह आये। बिंबिसार उनके उपदेशों से लाभान्वित हुआ। उसे स्रोतापन्न अवस्था प्राप्त हुई। वह जीवनभर भगवान का परम श्रद्धालु अंजलिबद्ध उपासक बना रहा। जब कृतघ्न पुत्र अजातशत्रु ने उसे कैद कर लिया और यंत्रणा देते हुए उसका प्राणांत किया, तब उस मरणांतक पीड़ा के समय भी वह श्रद्धापूर्वक भगवान को ही याद करता रहा, उनके ही गुण गाता रहा।

सो खो पनापि, भन्ते, अहोसि बुद्धे पसन्नो धम्मे पसन्नो सङ्घे पसन्नो सीलेसु परिपूरकारी।

– भंते, वह बुद्ध के प्रति, धर्म के प्रति और संघ के प्रति जीवनपर्यंत श्रद्धालु बना रहा और शील से परिपूर्ण रहा।

याव मरणकालापि राजा मागधो सेनियो बिम्बिसारो भगवन्तं कित्तयमानरूपो कालङ्कतो। (दी० नि० २.२७७, जनवसभसुत्त)

– मृत्यु के समय भी मगधराज श्रेणिक बिंबिसार ने भगवान का गुणगान गाते हुए ही प्राण छोड़े।

महाराज प्रसेनजित

महाराज प्रसेनजित कोशल राज्य का स्वामी था। शाक्यों का जनतंत्र कपिलवस्तु भी उसके अधीन था। इसी प्रकार कोलिय, मल्ल, मौर्य और कालामा प्रदेश भी।

पहली ही मुलाकात में उसने उन दिनों के अन्य धर्माचार्यों की तुलना में भगवान की उम्र कम देख कर उनके बुद्धत्व पर संदेह प्रकट किया। परंतु भगवान के उत्तर से संतुष्ट हुआ। (सं० नि० १.१.११२, दहरसुत्त)

भगवान के प्रति उसकी श्रद्धा बढ़ते-बढ़ते ही बढ़ी। अनन्य श्रद्धा पुष्ट होने में कुछ समय लगा। बल्कि उसकी रानी मल्लिका में भगवान के प्रति अटूट श्रद्धा जल्दी जागी। एक बार मल्लिका ने भगवान के किसी वचन का अनुमोदन किया, तो प्रसेनजित को बहुत बुरा लगा। उसे लगा कि मल्लिका भगवान की अंध-भक्त हो गयी है। अतः उसने मल्लिका को धिक्कारते हुए कहा –

एवमेव खो त्वं, मल्लिके, यञ्ञदेव समणो गोतमो भासति, तं तदेवस्स अब्भनुमोदसि।

– मल्लिका, जैसे जैसे श्रमण गौतम कहता है, वैसे-वैसे ही तू उसका अनुमोदन करती है।

और फिर फटकारते हुए बोला –

चरपि, रे मल्लिके, विनस्साति। (म० नि० २.३५५, पियजातिकसुत्त)

– चल हट मल्लिका, तेरा नाश हो।

जिसने अपनी प्रिय रानी मल्लिका को बुद्ध- भक्त होने के कारण मरने का अभिशाप दिया, उसी प्रसेनजित ने एक अवसर पर भगवान की परीक्षा लेने का भी दुस्साहस किया। भगवान श्रावस्ती के पूर्वाराम विहार के बाहर बैठे थे। प्रसेनजित उनसे मिलने आया हुआ था। इतने में –

सत्त च जटिला, सत्त च निगण्ठा, सत्त च अचेलका, सत्त च एकसाटका, सत्त च परिब्बाजका, (सं० नि० १.१.१२२, सत्तजटिलसुत्त)

– सात जटाधारी, सात निर्ग्रंथ, सात नग्न, सात एकवस्त्रधारी और सात परिव्राजक –

सामने सड़क पर से गुजरे। राजा प्रसेनजित जानता था कि ये सब के सब उसके राजकीय जासूस हैं, जो नाना प्रकार के छद्मवेष धारण कर उसके लिए जासूसी करते हैं। लगता है वह भगवान को जांचना चाहता था। इसलिए उन छद्मवेषी जासूसों के प्रति आमुख हो, उसने हाथ जोड़ कर नमस्कार किया और तीन बार अपना नाम सुनाया। उसने फिर भगवान से कहा कि ये सब के सब अरहंत हैं अथवा अरहंत-मार्ग-गामी हैं। भगवान ने वस्तु- स्थिति जानी और उसके कथन को अस्वीकार करते हुए कहा कि ये सब काम-भोगी गृहस्थ हैं। इस पर प्रसेनजित ने तुरंत स्वीकार कर लिया कि ये उसके राज्य के जासूस हैं।

प्रसेनजित भगवान का समवयस्क था और कम उम्र में ही उनके संपर्क में आ गया था। जब उसकी अस्सी वर्ष की पकी हुई अवस्था हुई, तब तक उसने भगवान को भली-भांति जांच-परख लिया था। अन्य धर्माचार्यों की तुलना में उनकी महानता भी देख ली थी। अब वह पूर्णतया आश्वस्त था। उस समय उसने अपनी गहन श्रद्धा प्रकट की, वह अद्भुत थी। उसने भगवान के चरणों पर अपना सिर रखा और श्रद्धाबहुल हो उन्हें चूमने लगा। उन्हें हाथों से दबाने लगा और श्रद्धापूर्वक अपना नाम सुनाने लगा।

राजाहं, भन्ते, पसेनदि कोसलो, राजाहं, भन्ते, पसेनदि कोसलो।

–भंते, मैं कोशल का राजा प्रसेनजित हूं, भंते, मैं कोसल का राजा प्रसेनजित हूं।

ऐसी अद्भुत श्रद्धा प्रकट करने का कारण पूछने पर उसने भगवान से कहा –

अयम्पि खो मे, भन्ते, भगवति धम्मन्वयो होति।

– भंते, भगवान से मेरा धर्म-अन्वय है अर्थात धर्म का संबंध है।

सम्मासम्बुद्धो भगवा – भगवान सम्यक संबुद्ध हैं।

स्वाक्खातो भगवता धम्मो – भगवान का धर्म सुआख्यात है।

सुप्पटिपन्नो भगवतो सावकसङ्घो – भगवान का श्रावक संघ सुप्रतिपन्न है।

उसने भगवान के साथ अपना सांसारिक संबंध भी प्रकट किया।

पुन चपरं, भन्ते, भगवापि खत्तियो, अहम्पि खत्तियो;

– और फिर भंते भगवान भी क्षत्रिय हैं, मैं भी क्षत्रिय हूं;

भगवापि कोसलो अहम्पि कोसलो – भगवान भी कोशलदेशीय हैं, मैं भी कोशलदेशीय हूं;

भगवापि आसीतिको, अहम्पि आसीतिको – भगवान भी अस्सी वर्ष के हैं, मैं भी अस्सी वर्ष का हूं। (म० नि० २.३६६-३७४, धम्मचेतियसुत्त)

इस घटना के कुछ समय बाद ही कोशलेश प्रसेनजित का देहांत हो गया। जीवन के अंतिम क्षणों तक वह भगवान के प्रति परम श्रद्धालु बना रहा।

महाराज पुष्करसाति

गांधार नरेश पुष्करसाति मगध नरेश बिंबिसार का अनदेखा पत्रमित्र था। जब उसे बिंबिसार के एक पत्र द्वारा यह सूचना मिली कि संसार में बुद्ध उत्पन्न हुए हैं और भव-संसार से सर्वथा विमुक्त होने की साधना-विधि सिखाते हैं तो उसमें अपूर्व धर्म-संवेग जागा। राज-वैभव त्याग कर उसने परिव्राजक का बाना पहना और भगवान के दर्शनार्थ गांधार देश की राजधानी तक्षशिला से मगध की राजधानी राजगृह की ओर पैदल चल पड़ा। इस लंबी यात्रा के बाद जब वह राजगृह पहुँचा तब शाम हो जाने के कारण नगर के दरवाजे बंद हो चुके थे। अतः रात बिताने के लिए नगर के बाहर एक कुम्हार की धर्मशाला में ठहरा। भगवान भी श्रावस्ती के जेतवन से चल कर उसी शाम राजगृह पहुँचे और रात बिताने के लिए उसी धर्मशाला में टिके। पुष्करसाति भगवान को नहीं पहचान पाया। रात के

अंतिम पहर में भगवान ने उससे बातचीत की और विपश्यना की गंभीर धातु विभंग देशना दी। इसे सुन कर गांधार नरेश पुष्करसाति ने भगवान की बतायी विधि से साधना करते हुए अनागामी अवस्था प्राप्त की। तब उसने भगवान को पहचाना। अत्यंत श्रद्धाबहुल होकर भगवान को नमन करते हुए, उसने ये प्रीति-वाक्य अभिव्यक्त किये –

सत्था किर मे अनुप्पत्तो – अहो, मुझे शास्ता मिल गये।

सुगतो किर मे अनुप्पत्तो – अहो, मुझे सुगत मिल गये।

सम्मासम्बुद्धो किर मे अनुप्पत्तो – अहो, मुझे सम्यक संबुद्ध मिल गये।

(म० नि० ३.३७०, धातुविभङ्गसुत्त)

भोर होते-होते पुष्करसाति का शरीरांत हो गया। इस प्रकार वह मृत्यु के पूर्व भगवान का शिष्य बन कर निर्वाणलाभी हुआ।

राजा तिस्स

सिंध के उत्तर में सोवीर देश की राजधानी रोरुव का नरेश तिस्स भी गांधार नरेश की भांति महाराज बिंबिसार का पत्रमित्र था। उसके एक पत्र से प्रभावित होकर वह भी राजपाट छोड़ कर भगवान से मिलने आया। भगवान के सान्निध्य में उसने विपश्यना का अभ्यास किया और अरहंत अवस्था प्राप्त की। मुक्त अवस्था में प्रसन्नता भरा उद्गार प्रकट करते हुए उसने कहा –

हित्वा सतपलं कंसं, सोवण्णं सतराजिकं – कांसे और सोने के सुंदर बहुमूल्य राजसी पात्रों को त्याग कर

अग्गहिं मत्तिकापत्तं – मैंने यह मिट्टी का भिक्षापात्र ग्रहण किया है।

इदं दुतियाभिसेचनं – मेरा यह दूसरा अभिषेक हुआ।

(थेरगा० ९७, तिस्सत्थेरगाथा)

राज्याभिषेक से कहीं उत्तम यह मुक्ति का अभिषेक है।

राजा भद्दिय

सम्यक संबोधि प्राप्त करने के बाद जब भगवान कपिलवस्तु गये, तब उनकी धर्म-देशना ने महाराज शुद्धोदन, महारानी प्रजापती, कुमार राहुल, राहुल-माता यशोधरा, राजा दंडपाणि सहित शाक्य और कोलिय परिवार के अन्य अनेक लोगों को कृतार्थ किया। अनेक लोग भिक्षु संघ में सम्मिलित हुए। भगवान का चचेरा भाई अनुरुद्ध भी प्रव्रजित होने के लिए आतुर हो उठा। परंतु अत्यंत सुकुमार होने के कारण उसकी मां उसे रोकती रही। जब वह किसी प्रकार भी नहीं माना, तब उसे एक शर्त पर अनुमति दी गयी कि यदि उसका मित्र गोधिय-पुत्र शाक्य राजा भद्दिय भी उसका साथ दे, तब वह भले प्रव्रजित हो जाय। शाक्यों का शासन जनतंत्रीय था। जनतंत्रीय संसद के सभी सदस्य राजा कहलाते थे और प्रत्येक के जिम्मे किसी न किसी शासन-विभाग. का दायित्व होता था। भद्दिय उस समय जनतंत्र का जिम्मेदार राजा था। माता जानती थी कि वह कभी भी घर छोड़ने के लिए तैयार नहीं होगा, परंतु अनुरुद्ध ने उसे वचनबद्ध कर प्रव्रज्या के लिए तैयार कर लिया। राजा भद्दिय और अनुरुद्ध, आनंद, भृगु, किम्मिल और देवदत्त के साथ भगवान के पास प्रव्रजित हुए। भगवान की बतायी साधना का अभ्यास करते हुए भद्दिय शीघ्र ही अरहंत अवस्था को प्राप्त हुए। उस अनुत्तर अवस्था का जीवन जीते हुए उनके मुँह से यह प्रीतियुक्त उद्गार निकल पड़ा –

अहो सुखं, अहो सुखं।

अन्य भिक्षुओं ने समझा कि यह वचनबद्ध हो जाने के कारण बेमन से प्रव्रजित हुआ है और अपने गृहस्थ जीवन के राजसी सुखों को याद कर ऐसे उद्गार प्रकट कर रहा है। भगवान ने उन अबोध भिक्षुओं का भ्रम दूर करने के लिए उनके सम्मुख भद्दिय को बुलाया और उससे इन उद्गारों का कारण पूछा। भद्दिय ने स्पष्ट किया – जब कोई राजा के पद पर होता है तब उसकी सुरक्षा का कड़ा प्रबंध किया जाता है। महल के भीतर भी, बाहर भी, नगर के भीतर भी, बाहर भी, जनपद के भीतर भी, बाहर भी, सुरक्षा की बहुत

चुस्त व्यवस्था होती है। यह सब होते हुए भी राजा की जान को खतरा बना रहता है। इसी का उल्लेख करते हुए गोधिय-पुत्र भद्दिय ने कहा –

एवं रक्खितो गोपितो सन्तो – यों पहरों के बीच सुरक्षित रखा हुआ भी मैं सदा,

भीतो उब्बिग्गो उस्सङ्की उत्रासी विहासिं – भयभीत, उद्विग्न, सशंक और संत्रस्त रहता था,

और अब अकेला ही अरण्य में रहते हुए, पेड़ के तले रहते हुए, शून्यागार में रहते हुए भी,

अभीतो अनुब्बिग्गो, अनुस्सङ्की, अनुत्रासी – अभीत, अनुद्विग्न, अशंक और असंत्रस्त रह कर,

अप्पोस्सुक्को पन्नलोमो परदत्तवुत्तो, मिगभूतेन चेतसा विहरामि – अनुत्सुक, शांत और पराये दान पर संतुष्ट रह कर, मृग की तरह विश्वस्त होकर विहार करता हूं।

यह देख कर ही मेरे मुँह से उदान के वाक्य निकले –

अहो सुखं, अहो सुखं। (उदा० २०, भद्दियसुत्त)

राजा भद्दिय का भगवान की शरण में आना परम फलदायी हुआ। देवदत्त को छोड़ कर अन्य राजकुमारों का भी कल्याण हुआ।

राजा महाकप्पिन

उन दिनों के सीमांतप्रदेश की राजधानी कुक्कुटावती थी। संभवतः वह आज के बलूचिस्तान की क्वेटा नगरी थी। वहां का राजा महाकप्पिन अत्यंत मेधावी था। व्यापार के लिए श्रावस्ती में आए हुए किन्हीं व्यापारियों से उसने जाना कि कोशल देश में बुद्ध उत्पन्न हुए हैं और वे भवमुक्ति के लिए शुद्ध धर्म सिखाते हैं। यह सुन कर राजा के मन में धर्म-संवेग जागा और वह भगवान से मिलने श्रावस्ती चला आया। वहां उनकी बतायी विधि के अनुसार पुरुषार्थ करते हुए उसने अरहंत अवस्था प्राप्त कर ली। महाकप्पिन अद्भुत धर्मोपदेशक थे, अत्यंत प्रज्ञावान थे। भगवान ने उन्हें अग्र

धर्मोपदेशक की उपाधि दी। उनके उद्गार बड़े प्रेरणादायक हैं। एक उदाहरण है –

जीवते वापि सपञ्ञो, अपि वित्तपरिक्खयो।

– धनहीन होने पर भी सप्रज्ञ व्यक्ति जीवंत है। परंतु

पञ्ञाय च अलाभेन, वित्तवापि न जीवति।

– प्रज्ञाविहीन व्यक्ति धनवान हो तब भी अजीवित है यानी मृत ही है।

(थेरगा० ५५०, महाकप्पिनत्थेरगाथा)

अन्य पांच सौ शाक्य-कोलिय राजकुमार

राजा भद्दिय के साथ जो शाक्य-कोलिय राजकुमार आये और भगवान के शिष्य हुए, उनके अतिरिक्त कालांतर में दो सौ पचास शाक्य राजकुमार और दो सौ पचास कोलिय राजकुमार भगवान से प्रव्रजित हो, उनके अनुगामी हुए। ये पांच सौ राजकुमार रोहिणी नदी के पानी के लिए परस्पर रक्तपात पर उतारू थे। भगवान ने उन्हें इस दुष्कर्म से बचाया और प्रव्रजित कर अरहंत अवस्था तक पहुँचाया। ये वही पांच सौ अरहंत भिक्षु थे, जो भगवान के साथ हिमालय के महावन में विहार कर रहे थे, जबकि महासमय का अवसर आया और भगवान सहित इन पांच सौ अरहंतों के भिक्षुसंघ के दर्शनार्थ भिन्न- भिन्न चक्रवालों के देव-ब्रह्म एकत्र हुए थे।

अभय राजकुमार

अभय राजकुमार महाराज बिंबिसार का पुत्र था। अपने पूर्व आचार्य के उकसाने पर वह भगवान बुद्ध से विवाद करने गया परंतु भगवद्-वाणी सुन कर भगवान का शिष्य हो गया। कुछ समय बाद जब अजातशत्रु द्वारा महाराज बिंबिसार की हत्या कर दी गयी, तब यह बहुत व्यथित हुआ और प्रव्रजित होकर भगवान के भिक्षु संघ में सम्मिलित हो गया। वहां

मुक्तिदायिनी विपश्यना का अभ्यास करते हुए उसे अरहंत पद प्राप्त हुआ। उस समय उसने यह उल्लासभरी गाथा गायी –

सुत्वा सुभासितं वाचं, बुद्धस्सादिच्चबन्धुनो – आदित्यबंधु भगवान बुद्ध का सदुपदेश सुन कर,

पच्चब्यधिं हि निपुणं – प्रतिवेधन करके देखने में, अर्थात विपश्यना साधना द्वारा पंचस्कंधों को अलग-अलग करके देखने में वैसे ही निपुण हो गया,

वालग्गं उसुना यथा – जैसे कि तीर द्वारा बाल के अग्र भाग को बींधा जाता है।

(थेरगा० २६, अभयत्थेरगाथा)

बोधि राजकुमार

कौशाम्बी का बोधि राजकुमार भगवान के प्रति अत्यंत श्रद्धालु था। उसने एक नया महल बनवाया, जिसके गृह-प्रवेश के अवसर पर उसने संघ सहित भगवान को भोजन के लिए आमंत्रित किया। भगवान समय पर पहुँच गये। बोधि राजकुमार महल के नीचे उनकी अगवानी के लिए खड़ा था। भगवान के आते ही उसने उन्हें महल की सीढ़ियों पर चढ़ने का निवेदन किया। उसने भगवान के सम्मान में महल की सीढ़ियों पर सफेद धुस्से बिछा रखे थे। भगवान ने उन पर पांव नहीं रखा। आनंद ने बोधि राजकुमार से कहा –

संहरतु राजकुमार, दुस्सानि – राजकुमार धुस्सों को समेट लो,

न भगवा चेलपटिकं अक्कमिस्सति – भगवान चेल-पंक्ति पर अर्थात कपड़े के पांवड़ों पर पैर नहीं रखेंगे।

पच्छिमं जनतं तथागतो अनुकम्पति – भावी जनता पर भगवान अनुकंपा कर रहे हैं।

भगवान ऐसी कोई गलत परंपरा स्थापित नहीं किया चाहते थे, जिससे कि भावी पीढ़ी के आचार्यों को पांवड़ों पर चलने की परिपाटी बने और भक्तों को यह अशोभनीय बोझ उठाना पड़े।

भोजनोपरांत भगवान ने धर्म-देशना दी। उन्होंने बोधि राजकुमार के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए बताया कि यदि योग्य पात्र हो, तो प्रातः प्रशिक्षित किया हुआ व्यक्ति भगवान के बताये हुए मार्ग पर चल कर शाम तक और शाम को प्रशिक्षित किया हुआ व्यक्ति सुबह तक मुक्त-अवस्था को प्राप्त कर सकता है। यह सुन कर प्रसन्न-चित्त हो, बोधि राजकुमार ने हर्ष के वचन कहे –

अहो बुद्धो, अहो धम्मो, अहो धम्मस्स स्वाक्खातता!

(म० नि० २.३२६,३४५, बोधिराजकुमारसुत्त)

– अहो बुद्ध, अहो धर्म, अहो धर्म की सुआख्यातता अर्थात धर्म का सु-आख्यान!

तदुपरांत बोधि राजकुमार ने बताया कि जब वह गर्भ में था, तब उसकी मां भगवान को नमस्कार करने आयी और बोली कि भंते, मेरी कोख में जो भी कुमारी या कुमार है, वह भगवान की, धर्म की और संघ की शरण जाता है। इसे भी अपना शरणागत उपासक स्वीकार करें। फिर जन्म के पश्चात एक बार उसकी धाय उसे गोद में उठाये भगवान के पास आयी और भगवान को नमस्कार कर बोली – भंते, यह बोधि राजकुमार भगवान की, धर्म की, और संघ की शरण ग्रहण करता है। इसे अपना शरणागत उपासक स्वीकार करें। और अब यह तीसरी बार मैं भगवान की, धर्म की, और संघ की शरण जाता हूं। आज से भगवान मुझे जीवन-पर्यंत शरणागत उपासक स्वीकार करें।

सिंह सेनापति

अन्य गणराज्यों की भांति लिच्छवियों के गणराज्य में भी राज्य संसद के सदस्य शासन की जिम्मेदारियां निभाते थे और उन्हें तदनुकूल अधिकार प्राप्त थे। हर सदस्य को उसकी योग्यतानुसार छोटी या बड़ी जिम्मेदारी दी जाती थी। सबसे बड़ी जिम्मेदारी गणराज्य के सेनापति की थी जो राज्य का प्रधानमंत्री भी होता था और उसी के अनुरूप उसका अधिकार भी होता था। उन दिनों लिच्छवियों का सेनापति और प्रधानमंत्री सिंह नाम का

नायक था, जिसका राज्य और जनता पर बड़ा दबदबा था। समय-समय पर अनेक लिच्छवी सरदार भगवान के शासन यानी उनकी शिक्षा के प्रभाव में आये थे, उनमें से प्रमुख थे – महालि, महानाम भद्दिय, साल्ह, अभय, पंडित कुमार, दुर्मुख, महामात्य नंदक।

इनके अतिरिक्त अनेक लिच्छवी पुरुष और नारियां भगवान के संपर्क में आकर प्रव्रजित भी हुई थीं, जैसे अंजनवनिय, सुयाम, पियंजह, वसभ, वल्लिय, वज्जिपुत्तक आदि थेर तथा जेन्ता, सीहा, वासेट्ठी, रोहिणी, अंबपाली, विमला आदि थेरियां।

सेनापति सिंह का भगवान के संपर्क में आना विशिष्ट ढंग से हुआ। उसके पूर्वाचार्य को भय था कि लिच्छवी राज्य का इतना महत्वपूर्ण व्यक्ति कहीं उसके प्रभाव-क्षेत्र से वाहर न चला जाय। तब तक विरोधियों द्वारा भगवान के वारे में निंदा की यह बात खूब प्रचारित कर दी गयी थी कि भगवान मायावी हैं, वे आवर्तनी विद्या का प्रयोग करते हैं और जो उनके पास जाता है उसे अपनी ओर मोड़ लेते हैं। दूसरी ओर भगवान की यह प्रसिद्धि भी फैली हुई थी कि वे परम परिशुद्ध धर्म की शिक्षा देते हैं। उन्हें संप्रदाय का बाड़ा बांधने में कोई रस नहीं है। लोक कल्याण ही उनकी शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य है। सिंह सेनापति ने अन्य लिच्छवी सरदारों से, भिक्षु और भिक्षुणियों से भगवान की महानता की इस सच्चाई के बारे में भी सुना होगा। इसीलिए वह बार-बार भगवान से मिलने के लिए आतुर होता था, परंतु उसका पूर्वाचार्य उसे यह कह कर रोक देता था कि श्रमण गौतम अक्रियावादी है, अर्थात धार्मिक क्रियाओं का विरोधी है। अक्रियावादी उन दिनों नास्तिक को भी कहते थे। नास्तिक माने वह व्यक्ति जो कर्म और कर्म-सिद्धांत को नहीं मानता। इसीलिए उसका पूर्वाचार्य सिंह सेनापति से कहता रहा कि तुम क्रियावादी हो, यानी कर्मवादी हो, यानी कर्म और कर्म के सिद्धांत को मानने वाले आस्तिक हो, तुम्हें किसी नास्तिक गुरु के पास नहीं जाना चाहिए।

किं पन त्वं, सीह, किरियवादो समानो अकिरियवादं समणं गोतमं दस्सनाय उपसङ्कमिस्ससि?

– सिंह, क्रियावादी होते हुए, क्या तू अक्रियावादी श्रमण गौतम के दर्शन के लिए जायेगा?

समणो हि, सीह, गोतमो अकिरियवादो, अकिरियाय धम्मं देसेति।

– हे सिंह, श्रमण गौतम अक्रियावादी है, वह अक्रियावाद का उपदेश देता है।

इस कारण सिंह सेनापति भगवान से मिलने की अपनी इच्छा को रोकता रहा। पर अंततः उससे रहा नहीं गया और वह भगवान से मिलने चला ही गया। जाते ही भगवान को नमस्कार कर, उसने यही प्रश्न किया कि क्या भगवान अक्रियावादी हैं?

भगवान ने उत्तर दिया – हां, मैं अक्रियावादी हूं।

सिंह यह सुन कर चौंका। भगवान ने स्पष्ट किया – वे कायिक, वाचिक और मानसिक दुष्कर्मों के प्रति अक्रियावादी हैं अर्थात उन्हें न करने का उपदेश देते हैं। भगवान ने कहा कि वे क्रियावादी भी हैं। कायिक, वाचिक और मानसिक सत्कर्मों के प्रति क्रियावादी हैं। उन्हें करने का उपदेश देते हैं।

भगवान ने करणीय और अकरणीय धर्मों पर और भी प्रकाश डाला। सिंह सेनापति यह सुनकर उनके प्रति पूर्ण आश्वस्त हुआ। भगवान के प्रति उसका सारा संदेह दूर हुआ। उनके प्रति गहरी श्रद्धा जागी और वह कह उठा –

धन्य है भगवान का वचन, धन्य है भगवान का कथन!

उपासकं मं भगवा, धारेतु अज्जतग्गे पाणुपेतं सरणं गतं।

– आज से भगवान मुझे जीवन-पर्यंत अपना शरणागत उपासक स्वीकार करें।

भगवान को संप्रदाय स्थापित नहीं करना था। किसी व्यक्ति को सांप्रदायिक बाड़े में बंद करना उनकी शिक्षा का मकसद नहीं था। जब समाज का कोई विशिष्ट व्यक्ति उनकी शरण ग्रहण करने की घोषणा करता, तब वह और सतर्क होकर उसे पुनर्विचार करने का परामर्श देते थे

जैसे उन्होंने उपालि को दिया था। अब भी यही किया। उन्होंने सिंह सेनापति से कहा -

अनुविच्चकारं खो, सीह, करोहि - सिंह, अच्छी प्रकार सोच-समझ कर निर्णय करो।

अनुविच्चकारो तुम्हादिसानं ञातमनुस्सानं साधु होति।

(महाव० २९०-२९३, सीहसेनापतिवत्थु)

- तुम्हारे जैसे लोक-प्रसिद्ध व्यक्ति को बहुत सोच-समझ कर ही कोई निर्णय करना चाहिए।

भगवान की ऐसी निःसंग निःस्पृहता देख कर सिंह सेनापति चकित रह गया। कोई अन्य सांप्रदायिक आचार्य होता, तो लिच्छवियों के शीर्षस्थ सरदार को अपनी शरण आया देख कर फूला नहीं समाता। सारे नगर में अपनी विजय पताकाएं फहराता। परंतु एक ये हैं शुद्ध धर्म के आचार्य, जो इतने असंग और अनासक्त हैं। भगवान के प्रति सिंह सेनापति की श्रद्धा द्विगुणित हो उठी और उसने शरणागत होने की पुनः घोषणा की।

तब भगवान ने अपने सहज स्वभाव-वश कहा कि तुम्हारे पूर्व आचार्य और उस संप्रदाय के साधुओं के लिए तुम्हारा घर दीर्घ- काल तक प्याऊ सदृश रहा है। कहीं ऐसा न हो कि उनको दी जाने वाली दान-दक्षिणा अब बंद हो जाय।

भगवान के इस कथन से सिंह के मन में और गहरी श्रद्धा जागी। उसने भगवान के बारे में यह गलत सुन रखा था कि वे अपने साधुओं को ही दान देने का उपदेश देते हैं, औरों को नहीं। भगवान के बारे में फैलाये गये इस प्रचार का मिथ्यापन भी उसे स्पष्ट हुआ।

सिंह सेनापति ने शेष जीवन भगवान बुद्ध को ही अपना उपकारी शास्ता माना।

अन्य राजा

यों भगवान उन दिनों के सभी महत्वपूर्ण राजाओं और शासकों के धर्म-शास्ता हुए। अनेक राजा, शासक और राजपुरुष भगवान के शिष्यों के शिष्य हुए, जैसे कि कौशाम्बी (वत्स) राज्य का शासक उदयन भिक्षु आनंद का, कुरु देश का राजा कौरव्य भिक्षु राष्ट्रपाल का और मधुरा (मथुरा) का राजा माधुर भिक्षु महाकात्यायन का शिष्य हुआ।

जैसे राजा वैसी प्रजा

जैसे राजाओं में वैसे ही उत्तर भारत के गंगा-जमुनी दोआबे की प्रजा में भगवान की शिक्षा उनके जीवनकाल में ही खूब फैली। भगवान की शिक्षा सार्वजनीन, सार्वदेशिक और सार्वकालिक सनातन धर्म की शिक्षा थी। भारत के पुरातन, शुद्ध आर्य-धर्म की शिक्षा थी। अतः वह किसी एक जनपद अथवा किसी एक जाति, वर्ण व वर्ग तक सीमित नहीं रही। देश के हर वर्ग के, हर उम्र के पुरुष और नारियों ने भगवान की शिक्षा सहर्ष स्वीकार की, अंगीकार की।

उरुवेल काश्यप

भगवान ने पैंतीस वर्ष की युवावस्था में सम्यक संबोधि प्राप्त की और इसी उम्र में धर्म सिखाने लगे। उन दिनों के समाज के अनेक चिर-प्रतिष्ठित, वयोवृद्ध धर्म-गुरु भगवान के श्रद्धालु शिष्य हो गये।

ऋषिपत्तन मृगदाय में पंचवर्गीय ब्राह्मण शिष्यों को धर्म में दीक्षित कर उन्होंने धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया। उसके बाद शीघ्र ही उरुवेल के वयोवृद्ध ब्राह्मण ऋषि उरुवेल काश्यप को, उसके दोनों भाइयों को और इन तीनों के पांच सौ जोड़ तीन सौ जोड़ दो सौ अर्थात एक हजार शिष्यों को धर्म में शिक्षित कर उन सबको साथ ले अपना वचन निभाने राजगृह पहुँचे। राजा बिंबिसार सहित अनेक नगर निवासी भगवान की धर्म सभा में एकत्र हुए।

भगवान के समीप उरुवेल काश्यप बैठा था जो चिरकाल से सारे मगध देश में प्रतिष्ठित, वयोवृद्ध धर्माचार्य था। उसकी तुलना में भगवान युवा थे और बहुत कम लोक-प्रसिद्ध थे। अतः सभा में उपस्थित हुए अनेक ब्राह्मण और अन्य गृहस्थों के मन में एक प्रश्न उठा –

किं नु खो महासमणो उरुवेलकस्सपे ब्रह्मचरियं चरति, उदाहु उरुवेलकस्सपो महासमणे ब्रह्मचरियं चरति।

– क्यों भाई, यह महाश्रमण गौतम उरुवेल काश्यप का शिष्य हो धर्माचरण का जीवन जी रहा है, अथवा उरुवेल काश्यप महाश्रमण का शिष्य हो धर्माचरण का जीवन जी रहा है?

यह प्रश्न लोगों के मन में उठना स्वाभाविक था, क्योंकि सहसा किसी को कैसे विश्वास होता कि यह युवा महाश्रमण इस लब्ध- प्रतिष्ठ, वयोवृद्ध ब्राह्मण ऋषि का गुरु है। भगवान ने लोगों के मन की बात जानी और उनका संदेह दूर करने के लिए उरुवेल काश्यप से पूछा –

किमेव दिस्वा उरुवेलवासी, पहासि अग्गिं किसकोवदानो।

– तप से कृश हुए शिष्यों के आचार्य हे उरुवेलवासी काश्यप, तूने क्या देख कर अग्नि परिचर्या छोड़ी?

पुच्छामि तं कस्सप एतमत्थं, कथं पहीनं तव अग्गिहुत्तं?

– हे काश्यप, मैं तुझसे पूछता हूं, तुम्हारा अग्निहोत्र कैसे छूटा?

उन दिनों यज्ञ करने का एक ही लक्ष्य होता था। देवेंद्र शक्र तथा सोम, वरुण, अग्नि आदि देवों को प्रसन्न करके मरने पर देवलोक प्राप्त हो। देवलोक दिव्य कामभोगों के अतिरिक्त और कोई विशेषता नहीं रखता था। यह बात भगवान की शिक्षा से खूब समझ में आ गयी और यह भी समझ में आ गया कि कामभोग तो कामभोग ही हैं चाहे मानुषी हों या दिव्य। सभी कामभोग भवचक्र में उलझाने वाले हैं, भवमुक्त कराने वाले नहीं हैं।

इसी पृष्ठभूमि का उल्लेख करते हुए उरुवेल काश्यप ने उत्तर दिया –

रूपे च सद्दे च अथो रसे च, कामित्थियो चाभिवदन्ति यञ्ञा।

– दिव्यांगनाओं के रूप, शब्द और रस की कामना से प्रेरित होकर ही यज्ञ का संपादन करना कहा जाता है।

एतं मलन्ति उपधीसु ञत्वा, तस्मा न यिट्ठे न हुते अरञ्जिं।

– ये दिव्य काम-भोग मैल की उपाधि हैं, नाम-रूप का भव-संसरण बढ़ाने वाले हैं, यह जान कर यज्ञ और हवन से मैं विरंजित हुआ, यानी विरक्त हुआ।

दिस्वा पदं सन्तमनूपधीकं, अकिञ्चनं कामभवे असत्तं।

– कामभव से अनासक्त, कामराग से अकिंचन, मुक्त, उपाधि विहीन, नाम और रूप के परे शांतपद निर्वाण को देख कर –

अनञ्ञथाभाविमनञ्ञनेय्यं,

– निर्वाण पद का वह अनन्यभाव जो किसी अन्य की कृपा से नहीं प्राप्त होता है, बल्कि स्वयं अपने परिश्रम से ही उपलब्ध होता है, उसका अनुभव कर –

तस्मा न यिट्ठे न हुते अरञ्जिं। (महाव० ५५, बिम्बिसारसमागमकथा)

– मैं यज्ञ और हवन से विरंजित हुआ, विरक्त हुआ।

उरुवेल काश्यप जैसे चिर-प्रतिष्ठित, वयोवृद्ध धर्मगुरु की वाणी पर लोगों को विश्वास हुआ कि देवलोक की उपलब्धि से भी ऊंचा भवमुक्ति का लक्ष्य है जो हवन यज्ञ के कर्मकांडों से नहीं, किसी अदृश्य देव की अनुकंपा से नहीं बल्कि स्वयं साधना करने से ही प्राप्त हो सकता है। लोगों ने जब स्वयं साधना करके उसे प्राप्त करना शुरू किया, तब भगवान की शिक्षा जन-जन में फैलने लगी।

सारिपुत्त और मोग्गल्लान

उन दिनों के छः प्रमुख धर्माचार्यों में एक था संजय जो मगध की राजधानी राजगृह में रहता था। उसके अढ़ाई सौ शिष्य थे जिनमें सारिपुत्त और मोग्गल्लान प्रमुख थे।

एक दिन परिव्राजक सारिपुत्त ने राजगृह की राजनगरी में आयुष्मान अश्वजित को भिक्षाटन करते देखा। वह उनकी संयत चाल- ढाल, नीची नजर और सु-आच्छादित चीवर, शांति और कांतियुक्त चेहरे को देख कर बहुत प्रभावित हो उनकी ओर आकर्षित हुआ। उसे लगा कि ये या तो अरहंत हैं या अरहंत- मार्ग पर आरूढ़ हैं। अधिक परिचय प्राप्त करने की तीव्र उत्कंठा लिए हुए सारिपुत्त उनके पीछे हो लिया। भिक्षाचारिका पूरी हुई। भिक्षु अश्वजित जहां एकांत में आहार लेने के लिए बैठे, वहां उनके सामने आ, नमस्कार कर उनसे पूछा कि आपके चेहरे की इंद्रियां अत्यंत शुद्ध और शांत हैं। आपका आचार्य कौन है? आप किसके सिखाये धर्म का आचरण कर रहे हैं?

अश्वजित ने बताया कि वे शाक्य कुल से प्रव्रजित हुए भगवान गौतम बुद्ध के शिष्य हैं और उन्हीं के बताये धर्म का पालन करते हैं।

जब सारिपुत्त ने उनसे भगवान के मत के बारे में पूछा तो अश्वजित ने कहा, वे उसे संक्षेप में ही बता सकते हैं। और संक्षेप में यों बताया -

ये धम्मा हेतुप्पभवा, तेसं हेतुं तथागतो आह।
तेसञ्च यो निरोधो, एवंवादी महासमणो॥

(महाव० ६०, सारिपुत्तमोग्गल्लानपब्बज्जाकथा)

- जो कुछ कारणों से उत्पन्न होता है, उसका कारण तथागत बताते हैं और उसका जो निरोध है, उसे भी। महाश्रमण का यही वाद है, यही कथन है, यही शिक्षा है।

भगवान बुद्ध का कोई दार्शनिक वाद या मत तो था नहीं। वे तो व्यावहारिक शास्ता थे। परिव्राजक सारिपुत्त विपुल पुण्य- पारमी का धनी था। उसे तुरंत समझ में आ गया कि संसार में जो भी दुःख है, वह बिना कारण उत्पन्न नहीं होता। भगवान उसकी उत्पत्ति का मूल कारण बताते हैं और यही नहीं, उसके निरोध की यानी नितांत उन्मूलन की साधना बताते हैं। इसी की तो भूख थी, इसी की तो खोज थी उसे। वाद-विवाद बढ़ाने वाली मत-मतांतरीय मान्यताएं किस काम की? अर्थपूर्ण शिक्षा तो यही थी और इस शिक्षा के शुभफल का एक अत्यंत आकर्षक और आदर्श उदाहरण

उसके सामने था। सारिपुत्त को समझते देर नहीं लगी। यह गाथा सुन कर उसका मन प्रीति-सुख से भर गया। उसके भीतर अनित्यबोधिनी विपश्यना जाग उठी। उसके विरज-विमल धर्मचक्षु खुल गए, जिससे उसने अनुभव कर लिया कि -

यं किञ्चि समुदयधम्मं, सब्बं तं निरोधधम्मन्ति।

(महाव० ६१, सारिपुत्तमोग्गल्लानपब्बज्जाकथा)

इस प्रकार निरोध-निर्वाण अर्थात अमृत का अनुभव कर सारिपुत्त स्रोतापन्न हुए। वे प्रसन्न-चित्त हो, अपने मित्र मोग्गल्लान के पास गये। उन्हें सारी आप-बीती कह सुनायी। मोग्गल्लान भी विपुल पुण्य-पारमी के धनी थे। सुनते-सुनते उनके भी धर्म-चक्षु खुले, उन्होंने भी अमृत का पान किया और स्रोतापन्न हुए। दोनों ने निर्णय किया कि वे तुरंत भगवान के दर्शन के लिए चलेंगे। उन्होंने अपना अनुभव अपने दो सौ पचास साथियों को सुनाया। वे भी उनके साथ चलने को उद्यत हो गये। उन्होंने अपने आचार्य संजय से भी बातचीत की, परंतु वह उनका साथ देने के लिए तैयार नहीं हुआ।

सारिपुत्त और मोग्गल्लान अपने साथियों सहित भगवान की शरण में आये, उनसे प्रव्रजित हो दोनों ने ही अचिर-काल में अरहंत-अवस्था प्राप्त की। इस घटना का लोगों पर गहरा प्रभाव पड़ा। अनेक प्रसिद्ध गृहस्थ भी भगवान की शरण आकर प्रव्रजित हुए। कुछ लोगों को बुरा भी लगा। उन्हें लगा कि श्रमण गौतम अपना संप्रदाय बढ़ाने में लगा है। इसने काश्यपबंधुओं सहित एक हजार जटाधारियों को अपना शिष्य बना लिया। अढ़ाई सौ संजय के शिष्यों को अपना शिष्य बना लिया। इतने से इसे संतोष नहीं हुआ। अब वह अनेक प्रसिद्ध-प्रसिद्ध गृहस्थों को प्रव्रजित कर अपना संप्रदाय बढ़ा रहा है। वे दुःखी होकर निंदा करते हुए कहने लगे -

अपुत्तकताय पटिपन्नो समणो गोतमो - श्रमण गौतम लोगों को अपुत्र बनाने में लगा है।

वेधव्याय पटिपन्नो समणो गोतमो - श्रमण गौतम सधवाओं को विधवा बनाने में लगा है।

कुलुपच्छेदाय पटिपन्नो समणो गोतमो – श्रमण गौतम कुल का नाश करने में लगा है।

भगवान ने कहा, लोगों को भ्रम है, इसलिए निंदा करते हैं। शीघ्र ही यह भ्रम दूर होगा। और यही हुआ। शीघ्र ही लोगों को भगवान का सही, मांगलिक मंतव्य समझ में आने लगा। वे चेले मूंड़ कर अपने संप्रदाय की संख्या बढ़ाने के लिए कुछ नहीं कर रहे थे। वे लोगों के मंगल के लिए, उनके कल्याण के लिए उन्हें सत्य धर्म सिखाते थे, शुद्ध धर्म सिखाते थे। इसमें उनका अपना कोई निहित स्वार्थ नहीं था। लोग सच्चाई समझने लगे।

नयन्ति वे महावीरा, सद्धम्मेन तथागता। (महाव० ६३, अभिञ्ञातानं पब्बज्जा)

– भगवान महावीर तथागत लोगों को सत्य- धर्म की ओर ले जाते हैं।

धर्म केवल भिक्षुओं के लिए ही नहीं है

भगवान लोगों को घर-वार छोड़ने की ही शिक्षा देते हैं, यह भ्रांति भी निरर्थक सावित हुई जब लोगों ने देख लिया कि भगवान की शिक्षा केवल उन्हीं लोगों के लिए नहीं है जो घर-वार छोड़ कर प्रव्रजित होते हैं। यह सच है कि भव-मुक्ति के लिए निरंतर साधना कर सकने की सुविधा एक गृही की अपेक्षा गृहत्यागी को अधिक होती है परंतु सभी लोग घर-वार नहीं छोड़ सकते थे। जिनके पास पूर्वजन्मों की निष्क्रमण-पारमी पर्याप्त मात्रा में हो, वे ही गृहत्याग कर, प्रव्रजित हो, भगवान की शिक्षा का शीघ्र लाभ उठा सकते थे। अन्य लोग गृही रहते हुए यथाशक्ति धर्म का जीवन जीते थे। जितने लोग गृहत्यागी हुए थे, उनकी तुलना में भगवान के गृही शिष्य कहीं अधिक संख्या में थे। जैसे गृहत्यागी समाज के हर वर्ण और वर्ग से आये थे, वैसे ही गृही अनुगामी भी समाज के हर तवके से थे। भगवान का सिखाया हुआ धर्म सवके लिए एक ही था – अनार्य को आर्य वना देने वाला शील, समाधि, प्रज्ञा का अष्टांगिक मार्ग। गृहत्यागी हो या गृही, धनवान हो या धनहीन, विद्वान हो या अनपढ़, ब्राह्मण हो या शूद्र; वह सवके लिए समान रूप से कल्याणकारी था। इसीलिए भगवान के शिष्यों में चाहे वे गृहत्यागी

हों या गृही, पुरुष हों या नारी, समाज की वहुरंगी छटा देखने को मिलती है।

कुक्कुटावती तथा गंधार से लेकर अंग देश तक के सभी प्रदेशों के लोग उसमें सम्मिलित हुए। राजा से लेकर भिखारी तक सभी पेशे के लोग सम्मिलित हुए। इससे यह सिद्ध होता है कि उनका सिखाया धर्म सार्वजनीन और सार्वभौमिक था। उनकी शिक्षा वैज्ञानिक और आशुफलदायिनी थी, तथा कर्मकांडों और अंध-विश्वासों से सर्वथा मुक्त थी। अतः प्रत्येक समझदार व्यक्ति को आकर्षित कर लेती थी। जो घर-वार छोड़ कर इसी में लग जाने की मनोवृत्ति रखते थे, वे प्रव्रजित हो जाते थे। वाकी लोग सद्गृहस्थ का जीवन जीते हुए, धर्म का यथाशक्ति अभ्यास कर लाभान्वित होते थे। इन्हीं की संख्या अधिक थी।

अनाथपिंडिक

श्रावस्ती से राजगृह आये हुए अनाथपिंडिक ने जव सुना कि संसार में वुद्ध उत्पन्न हुए हैं और कल उसके साले के घर भोजन के लिए पधार रहे हैं तव वह भगवान के दर्शन के लिए लालायित हो उठा। परंतु रात हो चुकी थी। भगवान के पास जाने के लिए यह उचित समय नहीं था। और यह संभव भी नहीं था, क्योंकि भगवान नगर की चहारदीवारी के वाहर शीतवन में विहार कर रहे थे और दिन ढलते ही वाहर जाने के लिए नगर के सारे द्वार वंद हो जाते थे। भोर होते ही भगवान के दर्शन के लिए जाना है, यह संकल्प कर अनाथपिंडिक सो गया। भोर हो गया, यह समझ कर रात में तीन वार उचक-उचक कर उठा। सुवह पौ फटने के पहले ही चल पड़ा। राह की वाधाओं के वावजूद श्मशान की ओर जाने वाले दरवाजे से निकल कर शीतवन पहुँच गया। भगवान वाहर खुले में चंक्रमण कर रहे थे। उसे देख कर एक विछे आसन पर वैठे और उसे नाम लेकर वुलाया –

एहि सुदत्त – आओ, सुदत्त।

यही उसका सही नाम था। अनाथपिंडिक तो उसकी उपाधि थी, क्योंकि वह गरीवों को नित्य भोजन-दान देता था।

नामेन मं भगवा आलपति - भगवान मेरा नाम लेकर मुझे बुला रहे हैं।

इसी से वह हर्ष-विभोर हो उठा। भगवान के चरणों में सिर नवा कर उसने पूछा -

कच्चि, भन्ते, भगवा सुखं सयित्थ - क्या भंते भगवान सुख से सोये?

भगवान ने करुणासिक्त, शांत वाणी में उत्तर दिया -

सब्बदा वे सुखं सेति, ब्राह्मणो परिनिब्बुतो - परिनिर्वाण-प्राप्त ब्राह्मण सदा सुख से सोता है।

इसके बाद भगवान ने अनाथपिंडिक को आनुपूर्वी धर्मकथा कही, जैसे दानकथा, शीलकथा इत्यादि और जब इस धर्म-देशना से उसका मन शांत, प्रसन्न और निर्मल हुआ तब -

अथ या बुद्धानं सामुक्कंसिका धम्मदेसना, तं पकासेसि।

- बुद्धों की उत्थानगामिनी धर्म-देशना प्रकाशित की;

दुक्खं, समुदयं, निरोधं, मग्गं - दुःख, उसकी उत्पत्ति, उसका निरोध और निरोध का मार्ग।

गृहस्थ हो या गृहत्यागी, जीवन-जगत की ये सच्चाइयां प्रत्येक व्यक्ति को आकर्षित कर लेती थीं। उनकी व्याख्या सुनते-सुनते जैसे कालिमा रहित, शुद्ध, श्वेत वस्त्र अच्छी प्रकार रंग पकड़ लेता है, वैसे ही अनाथपिंडिक को उसी आसन पर बैठे-बैठे -

विरजं वीतमलं धम्मचक्खुं उदपादि - विरज, विमल धर्मचक्षु उत्पन्न हुए।

उसने स्वानुभव से जान लिया कि -

यं किञ्चि समुदयधम्मं, सब्बं तं निरोधधम्मन्ति।

यों निरोध, निर्वाण अवस्था का स्वयं साक्षात्कार कर अनाथपिंडिक निहाल हुआ, अनार्य से आर्य हुआ, पृथग्जन से स्रोतापन्न हुआ।

अब धर्म-चर्चा उसके लिए केवल बुद्धि- विलास का विषय नहीं रह गया। अब उसने लौकिक और लोकोत्तर -

दिट्ठधम्मो, पत्तधम्मो, विदितधम्मो, परियोगाळ्हधम्मो।

- धर्म को देख लिया, प्राप्त कर लिया, स्वयं अनुभव कर लिया, उसमें डुबकी लगा ली।

और वह -

तिण्णविचिकिच्छो विगतकथङ्कथो वेसारज्जप्पत्तो।

- सारी शंकाओं से मुक्त होकर, निरर्थक बोलने-बतलाने से मुक्त होकर धर्म में वैशारद्य प्राप्त कर निर्भय हो गया और सबसे बड़ी बात यह हुई कि -

अपरप्पच्चयो सत्थुसासने - वह भगवान की शिक्षा में इस प्रकार स्थापित हो गया कि अब उसे किसी अन्य सहारे की आवश्यकता नहीं रह गयी।

भाव-विभोर होकर भगवान के प्रति अपनी अटूट श्रद्धा प्रकट करते हुए, उसने भगवान को दूसरे दिन भोजन के लिए आमंत्रित किया। भगवान ने मौन रह कर स्वीकार किया।

भोजन का सारा प्रबंध उसके साले के घर पर ही किया गया। भोजन ग्रहण कर भगवान ने धर्मोपदेश दिया, तब अनाथपिंडिक ने भगवान से करबद्ध प्रार्थना की -

अधिवासेतु मे, भन्ते, भगवा सावत्थियं वस्सावासं सद्धिं भिक्खुसङ्घेन।

- भंते भगवान, भिक्षु संघ के साथ अगला वर्षावास श्रावस्ती में स्वीकार करें।

भगवान ने स्वीकारते हुए कहा -

सुञ्ञागारे खो, गहपति, तथागता अभिरमन्ति।

- हे गृहपति, तथागत शून्यागार यानी एकांत में रहना पसंद करते हैं।

अनाथपिंडिक प्रफुल्लित हो कह उठा -

अञ्ञातं भगवा, अञ्ञातं सुगत - जान गया भगवान, समझ गया सुगत,

और श्रावस्ती पहुँच कर भगवान के विहार के लिए उपयुक्त स्थान की खोज करने लगा। स्थान ऐसा हो जो कि –

यं अस्स गामतो नेव अतिदूरे न अच्चासन्नं – गांव से न अति दूर हो, न अति समीप।

गमनागमनसम्पन्नं – जहां गमनागमन की सुविधा हो,

अत्थिकानं अत्थिकानं मनुस्सानं अभिक्कमनीयं – जहां लाभ लेने वाले लोगों के लिए आ सकने की सुगमता हो।

दिवा अप्पाकिण्णं – जहां दिन में बहुत भीड़-भाड़ न हो,

रत्तिं अप्पसद्दं, अप्पनिग्घोसं – जहां रात में बहुत हल्ला-गुल्ला न हो,

विजनवातं – जहां निर्जन वातावरण हो,

मनुस्सराहस्सेय्यकं – जहां राह पर लोगों का बहुत आवागमन न हो,

पटिसल्लानसारुप्पं – जो ध्यान के अनुकूल हो।

खोजते-खोजते उसे जेत राजकुमार का उद्यान इन सारी आवश्यकताओं के अनुकूल दीख पड़ा। यह उद्यान खरीदने के लिए वह राजकुमार जेत के पास गया। राजकुमार अपना उद्यान नहीं बेचना चाहता था। उसने टालने के लिए उसकी कीमत **कोटि सन्थर** बता दी।

अनाथपिंडिक ने उसकी जबान पकड़ ली और तत्क्षण सौदा पक्का कर लिया। बिना मन के जेतवन कुमार को अपना उद्यान बेचना पड़ा। वह स्वप्न में भी नहीं सोच सकता था कि उसके उद्यान की इतनी कीमत देने के लिए कोई तैयार हो जायेगा? **कोटि सन्थर** का अर्थ था – करोड़ों का बिछावन। उन दिनों की बोलचाल की भाषा में इसका अर्थ था, उद्यान की सारी भूमि पर एक किनारे से दूसरे किनारे तक सोने के सिक्कों की बिछायत करनी, यानी उसे सोने के सिक्कों से ढकना। श्रेष्ठि अनाथपिंडिक ने यही किया। वह –

सकटेहि हिरञ्ञं निब्बाहापेत्वा जेतवनं कोटिसन्थरं सन्थरापेसि।

– गाड़ियों में सोना भर-भर कर लाया और उसने उद्यान के एक छोर से दूसरे छोर तक बिछाना शुरू कर दिया।

जिस स्थान पर भगवान विहार करेंगे और उनके सान्निध्य में अनेक साधक साधना करेंगे, उस तपोभूमि की कोई कीमत नहीं आंकी जा सकती। अनाथपिंडिक को लगा, उस भूमि के लिए यह कीमत भी थोड़ी है। जो स्वयं धर्म-रस चख लेता है, उसके मन में यह भाव प्रबल हो ही उठता है कि ऐसा धर्म-रस अनेक लोग चखें। यहां भगवान स्वयं आकर रहेंगे, तब अनेक व्यक्तियों को यह सुविधा मिलनी सहज हो जायेगी। वह अत्यंत प्रसन्न चित्त से जेतवन को सोने की मोहरों से ढके जा रहा था और उसका मन इसी चिंतन में बांसों उछल रहा था कि उसकी संपत्ति का कैसा सदुपयोग होने जा रहा है!

राजकुमार यह सब देख कर भौंचक्का रह गया। उसने सोचा, अवश्य इस भूमि पर कोई महत्वपूर्ण कार्य होने जा रहा है, अन्यथा यह सांसारिक नगर-सेठ इसके लिए इतना धन नहीं लुटाता। जमीन का एक कोना अभी सोना बिछाये जाने से बचा था, अनाथपिंडिक ने गाड़ियों से और सोना लाने का आदेश दिया, परंतु जेत राजकुमार ने उसका हाथ पकड़ लिया और कहा –

अलं गहपति, मा तं ओकासं सन्थरापेसि – बस कर, गृहपति, इस खाली (जमीन) को मत ढक यानी इस पर स्वर्ण मत बिछा।

देहि मे एतं ओकासं – यह खाली जमीन मुझे दे,

ममेतं दानं भविस्सति – यह मेरा दान हो।

(चूळव० ३०५-३०७, अनाथपिण्डिकवत्थु)

अनाथपिंडिक ने उसकी बात यह सोच कर मान ली कि राजकुमार नगर का प्रसिद्ध व्यक्ति है। ऐसे व्यक्ति का उस पुण्य-कार्य में सहयोगी होना अच्छा ही होगा।

अनाथपिंडिक ने उस बहुमूल्य धरती पर विहार बनवाये, कोठे बनवाये, सभागृह बनवाये, पानी गर्म करने के लिए अग्निशालाएं बनवायीं,

भंडारघर बनवाये, पेशाब-पाखाने के स्थान बनवाये, खुले चंक्रमण बनवाये, चंक्रमण शालाएं बनवायीं, पानीघर बनवाये, प्याऊ बनवाये, स्नानागार बनवाये, स्नानशालाएं बनवायीं, पुष्करणियां बनवायीं और मंडप बनवाये, जिससे कि हजारों भिक्षु और साधक भगवान के सान्निध्य में सुविधापूर्वक रह कर ध्यान कर सकें। भगवान के इस परम श्रद्धालु, गृहस्थ शिष्य ने सदा के लिए दान के इतिहास में एक अतुलनीय समुज्ज्वल कीर्तिमान स्थापित किया।

मिगारमाता विशाखा

मगधराज के अधीन अंग देश। अंग देश की प्रमुख नगरी भद्दिय। भद्दिय का धन-कुबेर श्रेष्ठि मिंडक। मिंडक का पुत्र धनंजय। पिता धनंजय और माता सुमना की बेटी विशाखा।

विशाखा तब सात वर्ष की थी, जब भगवान भद्दिय पधारे। मिंडक का सारा परिवार भगवान का भक्त था। सात वर्ष की विशाखा ने अपनी पांच सौ सहेलियों के साथ भगवान की अगवानी की। भगवान ने उस समय जो धर्मोपदेश दिया उसे सुनते-सुनते विशाखा इतनी छोटी उम्र में ही स्रोतापन्न अवस्था को प्राप्त हुई। उसके पास पूर्व जन्मों की पुण्य पारमिताओं का विपुल भंडार था। अपने एक जीवन में वह भगवान कस्सप सम्यक संबुद्ध की सात बहनों में से एक थी और उस जीवन में बहुत से पुण्य कार्यों के साथ- साथ उसने गंभीर साधना भी की थी।

मगधराज बिंबिसार के राज्य में पांच धन- कुबेर थे – मिंडक, जोतिय, जटिल, पुन्नक और काकवलिय। किसी राज्य में एक भी धन-कुबेर का होना राज्य की आय-वृद्धि का ही कारण नहीं बनता, बल्कि उससे राज्य की शोभा-श्री भी बढ़ती है। अनाथपिंडिक जैसा धनवान व्यक्ति होते हुए भी कोशलेश प्रसेनजित के यहां उन पांचों जैसा धन- कुबेर एक भी नहीं था। प्रसेनजित और बिंबिसार ने एक दूसरे की बहन से विवाह किया था। दोनों में पारस्परिक स्नेह था। एक बार प्रसेनजित ने बिंबिसार के पास उनके पांच धन-कुबेरों में से एक को श्रावस्ती बसा देने का आग्रह किया। परंतु उनमें से

कोई भी अपना स्थान छोड़ कर श्रावस्ती जा बसने के लिए तैयार नहीं हुआ। इस मामले में बिंबिसार भी उन पर दबाव नहीं डाल सकता था। बहुत कहने- सुनने पर श्रेष्ठि मिंडक इस बात पर राजी हो गया कि उसका पुत्र धनंजय अपने परिवार के साथ कोशल देश में जाकर बसेगा।

धनंजय अपने परिवार सहित कोशल देश की राजधानी श्रावस्ती में तो नहीं बसा, परंतु श्रावस्ती से सात योजन दूर साकेत नामक स्थान में बस गया। उसके व्यापार के लिए वह स्थान अधिक अनुकूल था। विशाखा भी अपने पिता के साथ साकेत बस गयी।

वहीं रहते हुए उसका विवाह श्रावस्ती के श्रेष्ठि मिगार के पुत्र पुण्यवर्धन के साथ हुआ। वह ससुराल आ गयी, तब पुनः भगवान के निकट संपर्क में आ गयी। तब तक श्रावस्ती में अनाथपिंडिक का जेतवन विहार स्थापित हो चुका था और बहुधा भगवान वहीं वर्षावास करते थे।

विशाखा का ससुर किसी अन्य आचार्य का शिष्य था। प्रारंभिक कठिनाइयों के बावजूद विशाखा ससुर सहित अपने सारे परिवार को भगवान की शरण मे ले आने में सफल हुई। ससुर मिगार भगवान के संपर्क में आकर स्रोतापन्न हुआ। इससे वह इतना कृतज्ञ और प्रभावित हुआ कि विशाखा को अपनी मां की भांति सम्मानित करने लगा और इस कारण वह मिगारमाता के नाम से प्रसिद्ध हो गयी। तदुपरांत जन्मे अपने एक पुत्र का नाम भी उसने मिगार रख लिया, जिससे उसका यह नाम और अधिक सार्थक हो गया।

जैसे श्रावस्ती के पश्चिम की ओर अनाथपिंडिक ने जेतवन विहार बना कर भिक्षु संघ सहित भगवान को दान दिया था, वैसे ही नगर के पूर्व की ओर विशाल पूर्वाराम विहार बना कर विशाखा बृहद् दान की पुण्यभागिनी बनी।

भगवान ने जैसे दानी उपासकों में अनाथपिंडिक को अग्र की उपाधि दी, वैसे ही दानी उपासिकाओं में मिगारमाता विशाखा को अग्र की उपाधि दी।

एतदग्गं, भिक्खवे, मम साविकानं उपासिकानं दायिकानं यदिदं विसाखा मिगारमाता। (अ० नि० १.१.२५८-२५९, एतदग्गवग्ग)

– भिक्षुओ, मेरी उपासिका श्राविकाओं में, दायिकाओं में विशाखा मिगारमाता अग्र है।

आलवी का हत्थक आलवक

एक बार भगवान ने अपने इस गृही शिष्य के बारे में भिक्षुओं को बताया –

इमेहि खो, भिक्खवे सत्तहि अच्छरियेहि अब्भुतेहि धम्मेहि समन्नागतं हत्थकं आळवकं धारेथ।

– भिक्षुओ, यह जान लो कि आलवी का हत्थक सात अद्भुत, आश्चर्यजनक गुणधर्मों से संपन्न है।

वह श्रद्धावान है, शीलवान है, लज्जावान है, पापभीरु है, बहुश्रुत है, त्यागी है और प्रज्ञावान है।

किसी भिक्षु ने यह सुना, तब उसने भगवान की यह वक्तृता हत्थक आलवक को जा सुनायी। यह सुन कर हत्थक आलवक ने उस भिक्षु से पूछा –

कि जब भगवान ने यह कहा, तब उस समय वहां –

न कोचि गिही अहोसि ओदातवसनो – कोई श्वेतवस्त्रधारी गृहस्थ तो नहीं बैठा था,

जिसने भगवान के मुँह से मेरी यह प्रशंसा सुन ली हो?

जब उसने जाना कि कोई नहीं था तब वह बहुत संतुष्ट और प्रसन्न हुआ।

भगवान का शिष्य प्रशंसा का भूखा नहीं होता, बल्कि उससे कतराता है। भगवान ने जब यह सुना तब भिक्षु से कहा –

साधु, साधु, भिक्खु – बहुत अच्छा, भिक्षु, बहुत अच्छा।

अप्पिच्छो सो, भिक्खु, कुलपुत्तो – भिक्षु, यह गृहस्थ निःस्पृह है।

सन्तेयेव अत्तनि कुसलधम्मे – अपने में गुण-धर्म होते हुए भी वह –

न इच्छति परेहि ञायमाने – दूसरों पर प्रकट नहीं होने देना चाहता।

(अ० नि० ३.८.२३, पठमहत्थकसुत्त)

निःस्पृह होना, यह उसका आठवां अद्भुत, आश्चर्यजनक गुणधर्म जानो।

आलवी का हत्थक अपनी प्रशंसा से कतराता था, परंतु उसके पास ये आठ ही नहीं और भी गुण थे, जिनके कारण अनेक लोगों का समुदाय सदा उसके साथ रहता था।

भगवान ने अपने श्रावक शिष्यों को शील, समाधि और प्रज्ञा की शिक्षा के साथ-साथ लोक-व्यवहार की शिक्षा भी सिखायी थी। समाज के लोगों को अपने साथ जोड़े रखने के लिए भगवान ने चार उपाय बताये थे। हत्थक आलवक एक बार अपने पांच सौ साथियों के साथ भगवान से मिलने गया। भगवान ने पूछ लिया कि आलवक, तूने इतने सारे लोग अपने साथ कैसे जुड़ा लिये?

आलवक हत्थक ने उत्तर दिया –

यानिमानि, भन्ते, भगवता देसितानि चत्तारि सङ्गहवत्थूनि,

– भंते, भगवान ने संग्रह के जो चार उपाय बताये हैं –

तेहाहं इमं महतिं परिसं सङ्गण्हामि।

– उन्हीं से मैं इस विशद परिषद को संगृहीत रखता हूं, यानी एकत्र किये रखता हूं।

फिर उसने वे चारों उपाय दोहराये –

१. भंते, जिनके बारे में समझता हूं कि इन्हें कुछ देने से ये साथ होंगे, उन्हें कुछ देकर साथ कर लेता हूं।

२. जिनके बारे में समझता हूं कि मीठे वचन बोलने से ये साथ होंगे, उन्हें मीठे वचन बोल कर साथ कर लेता हूं।

३. जिनके बारे में समझता हूं कि इनका अर्थ सिद्ध हो जाने से ये साथ होंगे, उनका अर्थ सिद्ध करके उन्हें साथ कर लेता हूं।

४. जिनके बारे में समझता हूं कि बराबरी का बर्ताव करने पर ये साथ होंगे, उनके साथ बराबरी का बर्ताव करके उन्हें साथ कर लेता हूं।

इतना कह कर हत्थक ने फिर कहा –

संविज्जन्ति खो पन मे, भन्ते, कुले भोगा।

– भंते, मेरे अपने परिवार में सब ऐश्वर्य भोग विद्यमान हैं।

दलिद्दस्स खो नो तथा सोतब्बं मञ्ञन्ति।

(अ० नि० ३.८.२४, दुतियहत्थकसुत्त)

– दरिद्र हो तो उसकी बात कौन सुनता है, उसकी बात कौन मानता है?

अनाथपिंडिक और माता विशाखा सदृश हत्थक भी धनवान था, ऐश्वर्यवान था। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि भगवान की शिक्षा का लाभ केवल धनी वर्ग को ही मिला। सच्चाई यह है कि धनी हो या निर्धन, भगवान की शिक्षा से समाज के सभी वर्ग के लोग समान रूप से लाभान्वित हुए।

भिखारी सुप्रबुद्ध

राजगृह के वेलुवन कलंदकनिवाप विहार के सामने लोगों की बड़ी भीड़ लगी थी। नगर में एक महादरिद्र भिखारी था – कोढ़ी सुप्रबुद्ध। उसने दूर से यह भीड़ देखी, तो अनुमान किया कि वहां अवश्य लोगों को भोजन बांटा जा रहा है। इसी आशा से वह भीड़ के पास जा पहुँचा। देखा, वहां भगवान बुद्ध उपदेश दे रहे थे। लोग दत्तचित्त होकर सुन रहे थे। सुप्रबुद्ध पुण्यशाली था, उसे धर्म का उपदेश प्रिय लगा। वह भी वहीं बैठ कर सुनने लगा।

भगवान अक्सर यह देखा करते थे कि श्रोतामंडली में सबसे योग्य पात्र कौन है। यह देख लेने के बाद, अपना उपदेश विशेषकर उसी को लक्ष्य बना कर देते थे। आज की सभा में उन्होंने देखा कि सबसे योग्य पात्र

सुप्रबुद्ध है। उसके पास संगृहीत पुण्य- पारमी है, परंतु अपने पूर्वजन्म में किये गये किसी एक दुष्कर्म के कारण वह ऐसा दुःखी जीवन जी रहा है। लेकिन वह धर्म ग्रहण करने के सर्वथा योग्य है। सुप्रबुद्ध पर विशिष्ट करुणा बरसाते हुए, भगवान ने उसे ही अपने उपदेश का लक्ष्य बनाया। सुप्रबुद्ध निहाल हुआ, उपदेश सुनते-सुनते भीतर की सच्चाई का दर्शन करने लगा और उसने स्रोतापन्न अवस्था प्राप्त कर ली।

निर्धन सोपाक

श्रावस्ती की एक महादरिद्र, गर्भवती महिला। तब पुत्र सोपाक गर्भ में ही था जब एक दिन गर्भवती माता बेहोश हो गयी। लोग उसे मरा समझ कर श्मशान ले गये। वहां उसे कुछ समय के लिए होश आया। उसने पुत्र को जन्म दिया। प्रसव के बाद वहीं उसका देहांत हो गया। बालक सोपाक को दरिद्र पिता ने ही पाला-पोसा। सात वर्ष की उम्र में वह भगवान के संपर्क में आ गया। वह प्रव्रजित होकर ध्यान भावना में लग गया और समय पाकर उसने अरहंत अवस्था प्राप्त कर ली। सोपाक अपनी मैत्री भावना के लिए प्रसिद्ध थे। मुक्त अवस्था में उन्होंने हर्ष का यह उदान गाया था –

यथापि एकपुत्तस्मिं, पियस्मिं कुसली सिया।
एवं सब्बेसु पाणेसु, सब्बत्थ कुसलो सियाति॥

(थेरगा० ३३, सोपाकत्थेरगाथा)

– जैसे माता अपने इकलौते, प्रिय पुत्र के प्रति कुशल-मंगल का भाव रखती है, वैसे ही कुशल-मंगल का भाव सारे प्राणियों के प्रति रखें।

डोम सुप्पिय

श्रावस्ती में ही डोम घर में जन्मा हुआ सुप्पिय बड़ा होकर भिक्षु सोपाक के संपर्क में आया। भिक्षु के संपर्क में आया। इस प्रकार बुद्ध, धर्म और संघ के संपर्क में आया। मुक्त सोपाक की भांति सुप्पिय में भी मंगल मैत्री का भाव प्रबल था। मुक्त

अवस्था पाने पर उसका जो उदान प्रकट हुआ, उसमें मैत्री भावना प्रस्फुटित हुई –

अजरं जीरमानेन – जो जीर्ण-धर्मा हैं, उन्हें अजर (अमर) अवस्था से,

तप्पमानेन निब्बुतिं – जो संतापधर्मा हैं, उन्हें निर्वाण की शीतलता से,

निमियं परमं सन्तिं, योगक्खेमं अनुत्तरन्ति। (थेरगा० ३२, सुप्पियत्थेरगाथा)

– परम शांति से, अनुत्तर, अनुपम योगक्षेम से बदलूंगा। यानी उन्हें अनुत्तर, अनुपम योगक्षेम अवस्था प्राप्त होने में सहायक बनूंगा।

चांडाल सोपाक

चांडाल कुल में उत्पन्न सोपाक जब चार महीने का था, तब उसके पिता का देहांत हो गया। उसके चाचा ने उसे पाला-पोसा। चाचा बड़े चंड स्वभाव का था। छोटी-छोटी बात को लेकर वह सोपाक पर कुपित हो जाता और हाथ उठा लेता था। एक बार सोपाक जब सात वर्ष का था, तब किसी बात को लेकर उस पर इतना क्रुद्ध हुआ कि श्मशान में ले जाकर उसे एक मुर्दे के साथ बांध कर छोड़ दिया, ताकि जब सियार उस मुर्दे को खाने आयें, तब इसे भी खाकर इसका काम तमाम कर दें। असहाय सोपाक चीखता रहा, चिल्लाता रहा, रुदन-विलाप करता रहा, पर वहां श्मशान में उसका सुनने वाला कोई नहीं था। लेकिन उसका अरण्य-रुदन व्यर्थ नहीं गया। भगवान को उसकी दयनीय दशा की जानकारी हुई। उन्होंने उसे छुड़वाया और अपनी शरण में लेकर प्रव्रजित किया। भिक्षु सोपाक समय पाकर अपनी साधना द्वारा अरहंत अवस्था को प्राप्त हुए। मुक्ति के उल्लास में उन्होंने यह उदान गाया –

जातिया सत्तवस्सोहं – जीवन के सातवें वर्ष में मैंने

लद्धान उपसम्पदं – उपसंपदा ली।

धारेमि अन्तिमं देहं – (और यह देखो, अब) मैं यह अंतिम देह धारण किये हुए हूं,

इसके बाद अन्य कोई देह नहीं मिलेगी।

अहो धम्मसुधम्मता – (अरे, देखो तो) धर्म की महानता को, सुधर्मता को।

(थेरगा० ४८६, सोपाकत्थेरगाथा)

भंगी सुनीत

सुनीत राजगृह के भंगी कुल में जन्मा था और इसी पेशे द्वारा अपनी जीविका चलाता था। एक दिन सुबह-सुबह वह नगर की सड़क पर झाड़ू लगा रहा था। भगवान अपने भिक्षुसंघ के साथ भिक्षा के लिए नगर में प्रविष्ट हुए। भगवान को देख कर सुनीत झाड़ू छोड़, हाथ जोड़ कर एक ओर खड़ा हो गया। भगवान की करुणा फूटी, उसे धर्म का उपदेश दिया। वह भगवान के संघ में प्रव्रजित हो गया। भिक्षु सुनीत भगवान से साधना-विधि सीख कर एकांत में जा ध्यान भावना करने लगे और अचिर काल में उन्होंने अरहंत अवस्था प्राप्त कर ली। एक रात विपश्यना में संलग्न रहते हुए उन्हें तीनों अभिज्ञान प्राप्त हो गये। रात्रि के प्रथम याम में पूर्वजन्मों का स्मरण जागा; मध्यम याम में दिव्य चक्षु उत्पन्न हुए और अंतिम याम में अविद्या रूपी अंधकार को पूर्णतया विदीर्ण कर, आस्रवहीन, पूर्ण मुक्त अवस्था प्राप्त की। अरहंत सुनीत ने अपने तत्कालीन अनुभव इन शब्दों में अभिव्यक्त किये –

तब रात्रि के समापन पर, सूर्योदय होते ही इंद्र और ब्रह्मा ने आकर, अंजलिबद्ध होकर यह कहते हुए मेरी वंदना की –

नमो ते पुरिसाजञ्ञ, नमो ते पुरिसुत्तम।

– आपको नमस्कार है, हे पुरुषश्रेष्ठ, आपको नमस्कार है, हे नरोत्तम।

यस्स ते आसवा खीणा, दक्खिणेय्योसि मारिस।

– आपके आस्रव क्षीण हो चुके हैं, हे मान्यवर, आप प्रणम्य हैं, दाक्षिणेय्य हैं।

अरहंत सुनीत ने अपने अनुभव व्यक्त करते हुए आगे कहा –

ततो दिस्वान मं सत्था, देवसङ्घपुरक्खतं।

– मुझे इस प्रकार देव-मंडली से घिरे हुए देख कर शास्ता भगवान बुद्ध ने –

सितं पातुकरित्वान, इममत्थं अभासथ – जरा मुस्करा कर इस प्रकार कहा –

तपेन ब्रह्मचरियेन, संयमेन दमेन च – तप से, ब्रह्मचर्य से, संयम से और दम से –

एतेन ब्राह्मणो होति, एतं ब्राह्मणमुत्तमन्ति।

(थेरगा० ६२९-६३१, सुनीतत्थेरगाथा)

– (इनसे) ब्राह्मण होता है और यही ब्राह्मण्य उत्तम है।

जातिवाद की संकीर्ण मान्यताओं में जकड़े हुए लोगों के लिए यह शुद्ध धर्म की गुरु-गंभीर घोषणा थी। अंधकार में डूबे हुए, निराश, उदास लोगों के लिए यह एक आशावंत, प्रकाशमान, प्रेरणाप्रदायक उदाहरण था। ब्राह्मण ब्रह्माचरण से होता है, जन्म से नहीं। ऐसा ब्राह्मण ही पूज्य होता है, केवल मनुष्यों के लिए ही नहीं बल्कि देव-ब्रह्माओं के लिए भी; भले वह किसी भंगी के घर में जन्मा हो। जिसे लोग अछूत और अस्पृश्य मानते हैं, वही व्यक्ति मुक्त अवस्था प्राप्त कर सही माने में ब्राह्मण बन जाता है और देव ब्रह्मा तक उसकी वंदना करने की स्पृहा करते हैं।

शिकारी-पुत्री चापा

धर्म-चक्र-प्रवर्तन के लिए वाराणसी की ओर जाते हुए भगवान द्वारा संबोधि प्राप्ति की बात सुन कर, अविश्वास-भरे भाव में नाक-भौं सिकोड़ कर जो आजीवक उपक उन्हें छोड़ कर कुमार्ग पर चला गया था, वह आगे जाकर वंकहार जनपद के वन में, वहां के एक शिकारी की पुत्री चापा के प्रेम-पाश में बँध कर, प्रव्रज्या छोड़, उसके साथ गृहस्थ जीवन जीने लगा और मृत शिकारों का मांस बेचने के धंधे में लग गया। कालांतर में चापा को

उससे एक पुत्र प्राप्त हुआ। बच्चा जब कभी रोता, तब माता उसे चुप कराने के लिए कहती –

अरे, आजीवक के पुत्र रो मत; अरे, मांस ढोने वाले के पुत्र रो मत।

बार-बार पत्नी के ऐसे ताने सुन-सुन कर, उपक उसे छोड़ कर फिर संन्यासी होने के लिए उद्यत हुआ। चापा ने उसे बहुत रोकना चाहा, पर वह नहीं माना। उसने कहा कि वह सम्यक संबुद्ध को जानता है, उन्हीं की शरण जायगा।

उपक के मुँह से भगवान बुद्ध की प्रशंसा सुन कर चापा के मन में भी भगवान के प्रति श्रद्धा जागी। जब उसने देखा कि अब वह रोके नहीं रुकेगा, तब उसने जाते हुए उपक से प्रार्थना की –

वन्दनं दानि वज्जासि, लोकनाथं अनुत्तरं।
पदक्खिणञ्च कत्वान, आदिसेय्यासि दक्खिणं॥

(थेरीगा० ३०८, चापाथेरीगाथा)

– तुम उन अनुपम लोकनाथ भगवान बुद्ध के प्रति मेरी भी वंदना प्रकट करना। उनके प्रति अपनी प्रदक्षिणा और प्रणाम पूरा करके, मेरी ओर से प्रदक्षिणा कर देना।

उपक ने यही किया और भगवान से प्रव्रजित हो, मुक्ति के मार्ग पर चल पड़ा। समय पाकर चापा भी अपने पति के चरण-चिह्नों पर चल कर बढ़ चला। समय पाकर चापा भी अपने पति के चरण-चिह्नों पर चल कर बढ़ चला।

जनपदकल्याणी अंबपाली

लिच्छवी गणराज्य की सर्वश्रेष्ठ सुंदरी अंबपाली। राज्य की ओर से उसे जनपदकल्याणी की उपाधि मिली। उसे अपनी बनाने के लिए गणराज्य के राजकुमारों में प्रतिस्पर्द्धा चली। विग्रह-विवाद मिटाने के लिए राज्य के बड़े-बूढ़ों ने निर्णय किया कि वह किसी एक की न होकर **सब्बेसं होतु**, यानी सबकी हो। गृहवधू न बन कर नगरवधू बने।

जीवन के अंतिम दिनों में वह भगवान बुद्ध की ओर झुकी। उसे महाराज बिंबिसार से प्राप्त हुआ उसका पुत्र विमल कौंडण्य पहले ही प्रव्रजित हो, मुक्ति के मार्ग पर आगे बढ़ चुका था। पुत्र से प्रेरणा प्राप्त कर वह भी प्रव्रजित हुई और विपश्यना-साधना द्वारा अरहंत बनी।

जराधर्मा शरीर के प्रति उसके अनुभूतिजन्य उद्गार, शरीर के प्रति गहन आसक्ति रखने वाले भोले लोगों की आंख खोल देने वाले हैं।

कञ्चनस्सफलकंव सम्मट्ठं, सोभते सु कायो पुरे मम।

– स्वर्णफलक के समान चमकीला मेरा यह शरीर पहले कितना शोभायमान था।

सो वलीहि सुखुमाहि ओततो,

– वही आज जरावस्था में नन्हीं-नन्हीं झुर्रियों से भर गया है।

सच्चवादिवचनं अनञ्ञथा।

(थेरीगा० २६६, अम्बपालीथेरीगाथा)

– सत्यवादी भगवान बुद्ध के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

अभय-माता पद्मावती

जैसी वैशाली की अंबपाली वैसी ही उज्जयिनी की प्रसिद्ध गणिका पद्मावती। उसे भी महाराज बिंबिसार से अभय नामक पुत्र प्राप्त हुआ। वह भी अपने प्रव्रजित हुए पुत्र के उपदेशों से प्रभावित हो, स्वयं प्रव्रजित हुई और मुक्त अवस्था प्राप्त कर भाव-विभोर हो उठी। अपनी उपलब्धि का हर्षमय उद्घोष करते हुए उसने कहा – मेरे पुत्र ने मुझे साधना का जो मार्ग दिखाया,

एवं विहरमानाय – उसी प्रकार विहार करने पर,

सब्बो रागो समूहतो – (मेरा) सारा राग नष्ट हो गया।

परिळाहो समुच्छिन्नो – (वासना की) जलन जड़ से उखड़ गयी।

सीतिभूताम्हि निब्बुता – (और) मैं निर्वाण को प्राप्त कर शीतलीभूत हो गयी हूं।

(थेरीगा० ३४, अभयमातुथेरीगाथा)

गणिका अड्ढकासी

वह वाराणसी के एक धनाढ्य परिवार में जन्मी, परंतु संसार-प्रवाह में बहती हुई राजगृह आकर वेश्या का जीवन जीने लगी। भगवान बुद्ध के उपदेशों से प्रभावित होने के कारण उसके मन में वैराग्य जागा और वह भिक्षुणीसंघ में प्रव्रजित हो गयी। भगवान से साधना-विधि सीख कर उसने उद्यम किया और अरहंत अवस्था प्राप्त कर ली। अपने पूर्व जीवन की ओर संकेत करते हुए उसने कहा कि कभी मैं सौन्दर्य-सम्राज्ञी, रूपाजीवा थी परंतु–

अथ निब्बिन्दहं रूपे – फिर मुझे रूप के प्रति निर्वेद जागा,

निब्बिन्दं च विरज्जहं – निर्वेद जागा, तो विरक्ति जागी।

और आज मैं उस अवस्था तक पहुँच गयी, जहां पहुँच कर–

मा पुन जातिसंसारं – अब इस संसार में मेरा पुनर्जन्म होने वाला नहीं है।

(थेरीगा० २६, अड्ढकासिथेरीगाथा)

सन्धावेय्यं पुनप्पुनं।

– अब पुन: पुन: का संधावन (जन्म- जन्मांतरों में दौड़ना) छूट गया है।

भव-भ्रमण छूट गया है।

वेश्या विमला

वैशाली की एक वेश्या की पुत्री विमला। युवती होकर उसने अपनी मां की दूषित आजीविका अपना ली। महामोग्गल्लान के उपदेश सुन कर उसमें धर्म-संवेग जागा। साधना-विधि सीख कर वह ध्यान-मार्ग में आगे बढ़ने लगी और उसे भिक्षुणी संघ में प्रव्रजित हो पाने की अनुमति मिल गयी। साधना द्वारा मुक्त अवस्था प्राप्त कर उसने अपने गर्हित जीवन का प्रत्यवेक्षण किया और वर्तमान उपलब्धि पर संतोष व्यक्त किया। अपना

पूर्व जीवन याद कर उसने कहा कि कभी वह खूब सज-धज कर, सोलह शृंगार करके –

अट्ठासिं वेसिद्वारम्हि, लुद्दो पासमिवोड्डिय।

– वेश्या-गृह के द्वार पर खड़ी हो कर शिकारी की तरह जाल फैलाती थी।

अकासिं विविधं मायं, उज्जग्घन्ती बहुं जनं।

– लोगों को फँसाने के लिए खिलखिलाकर हँसती थी और नाना प्रकार की माया रचती थी।

साज्ज पिण्डं चरित्वान, मुण्डा सङ्घाटिपारुता।

– आज वही मैं सिर मुँड़ाये, चीवर पहने भिक्षाचरण करती हूं।

निसिन्ना रुक्खमूलम्हि, अवितक्कस्स लाभिनी।

– और पेड़ के तले बैठ कर अवितर्क ध्यान का लाभ लेती हूं।

खेपेत्वा आसवे सब्बे – मैंने सारे आस्रवों को, विकारों को दूर कर दिया है।

सीतिभूताम्हि निब्बुता – मैं निर्वाण- प्राप्त हूं, परम शांत हूं, शीतल हूं।

(थेरीगा० ७३-७६, विमलाथेरीगाथा)

सुमंगल-माता

वह अत्यंत दरिद्र घर में जन्मी और छाता बनाने वाले किसी अत्यंत दरिद्र व्यक्ति से उसका विवाह हुआ। उसे सुमंगल नाम का एक पुत्र प्राप्त हुआ, जो बड़ा होकर भगवान के संपर्क में आया और प्रव्रजित हो गया। पुत्र से प्रेरणा पाकर सुमंगल-माता भी प्रव्रजित हुई और परिश्रम करके उसने अलभ्य को प्राप्त कर लिया और भव-बंधनों से मुक्त हो, गा उठी –

सुमुत्तिका... – अहो, मैं विमुक्त हुई, भली-प्रकार विमुक्त हुई ...।

अहो सुखन्ति सुखतो झायामि। (थेरीगा० २३-२४, सुमङ्गलमाताथेरीगाथा)

– अहो, कितना सुख है, मैं कितने सुख से ध्यान करती हूं।

सुनार की बेटी शुभा

राजगृह के एक सुनार की बेटी शुभा युवावस्था प्राप्त होने पर एक दिन भगवान का उपदेश सुनने चली गयी। जो लोग अनेक जन्मों की पुण्य-पारमी वाले थे, उनके लिए भगवान का पहला उपदेश ही बड़ा कल्याणकारी सिद्ध हो जाता था। दत्तचित्त होकर धर्म-श्रवण करते-करते स्वतः ही उनके भीतर विपश्यना चलने लगती थी। शरीर और चित्त के उदय-व्यय की सच्चाई का यथार्थ बोध होने लगता था और यही बोध आगे बढ़ते-बढ़ते शरीर और चित्त के परे की निरोध-अवस्था का साक्षात्कार करा देता था और साधक को इस सत्य का कि जो समुदयधर्मा है, वह सभी निरोधधर्मा है –

यं किञ्चि समुदयधम्मं, सब्बं तं निरोधधम्मन्ति।

– का स्वानुभव करा कर स्रोतापन्न अवस्था तक पहुँचा देता था। साधक अनार्य से आर्य हो जाता था। सुनार-पुत्री शुभा ने यही अनुभूति संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त की –

दहराहं सुद्धवसना – युवावस्था में सफेद यानी गृही-वस्त्र धारण किये हुए,

यं पुरे धम्ममस्सुणिं – जब मैंने पहले- पहल धर्म-श्रवण किया,

तस्सा मे अप्पमत्ताय – तभी मुझे अल्प समय में ही,

सच्चाभिसमयो अहु – सत्य का साक्षात्कार हो गया।

इस तरह धर्म-श्रवण करते-करते स्रोतापन्न अवस्था तक पहुँचा हुआ व्यक्ति बहुधा गृहस्थ जीवन में ही रहते-रहते सद्-गृहस्थ का जीवन जीता था और गृहस्थ की जिम्मेदारियां निभाते हुए शनैः शनैः मुक्ति के रास्ते आगे बढ़ता रहता था। परंतु कोई-कोई प्रव्रजित होकर संपूर्णतया मुक्ति पथ पर लग जाता था।

युवती शुभा के मन में गृह त्यागने का धर्म-संवेग जागा। उसके माता-पिता, भाई- बंधु चाहते थे कि वह अभी युवती है, अतः विवाह करके गृही-बंधन में बँध जाय। परंतु वह अपने निश्चय पर दृढ़ रही और प्रव्रजित हो गयी। घरवाले बार बार उसकी प्रव्रज्या तुड़वाने का प्रयत्न करते रहे, परंतु वह स्थिर निश्चय होकर विरक्ति के पथ पर आगे बढ़ती रही। उसने सबसे दृढ़तापूर्वक यही कहा –

तं मं ञाती अमित्ताव, किं वो कामेसु युञ्जथ।

– तुम सब भाई-बंधु मेरे साथ शत्रु का सा व्यवहार क्यों करते हो? क्यों मुझे काम-भोगों में लगाना चाहते हो?

जानाथ मं पब्बजितं, कामेसु भयदस्सिनिं।

– तुम जानते हो कि मैं काम-भोग के जीवन में भय देख कर प्रव्रजित हुई हूं।

रणं करित्वा कामानं, सीतिभावाभिकङ्खिनी।

– मैं काम-भोग से युद्ध करती हुई परम शांति की अभिलाषिनी हूं।

जिसके पास अनेक जन्मों की पकी- पकायी पारमी होती है, उसे मुक्ति से कौन विमुख कर सकता है?

मुक्ति की विजय-श्री हाथ बांधे रण- बांकुरी शुभा की प्रतीक्षा कर रही थी। इसे प्राप्त कर विजयिनी के हर्षोद्गार प्रकट हुए –

अज्जट्ठमी पब्बजिता, सद्धा सद्धम्मसोभना।

– श्रद्धापूर्वक सद्धर्म की शोभा बढ़ाती हुई शुभा की प्रव्रज्या का यह आठवां ही दिन है और –

सब्बयोगविसंयुत्ता, कतकिच्चा अनासवा।

(थेरीगा० ३३९,३४८,३६२,३६५,३६६, सुभाकम्मारधीतुथेरीगाथा)

– वह सारे संयोजनों से विमुक्त हो गयी है, कृत-कृत्य हो गयी है, अनास्रव हो गयी है।

सुनार की बेटी शुभा धन्य हो गयी है।

पनिहारिन पूर्णा

सेठ अनाथपिंडिक की दासी की पुत्री थी पूर्णा। वह घर में पानी भरने का काम करती थी। अपने मालिक के माध्यम से वह भगवान के संपर्क में आयी और उनके उपदेशों से धर्म-संविग्न हो, स्रोतापत्ति फल में प्रतिष्ठित हो गयी। उसने एक ब्राह्मण को पानी में स्नान करने से भव-मुक्त हो जाने की मिथ्या मान्यता से मुक्त किया और उसके श्रद्धाबहुल हो जाने पर उसकी मंगल-कामना करते हुए ये स्वस्ति-वचन कहे –

सचे भायसि दुक्खस्स, सचे ते दुक्खमप्पियं।

– यदि सचमुच तुझे दुःख से भय है, यदि सचमुच तुझे दुःख अप्रिय लगता है तो –

उपेहि सरणं बुद्धं, धम्मं सङ्घञ्च तादिनं – तू बुद्ध, धर्म और संघ-सदृश रत्नों की शरण ग्रहण कर।

समादियाहि सीलानि – तू शील, सदाचार का पालन कर।

तं ते अत्थाय हेहिति – इसी से तेरी अर्थसिद्धि होगी।

(थेरीगा० २४६,२४९, पुण्णाथेरीगाथा)

कालांतर में अनाथपिंडिक ने प्रसन्न होकर पूर्णा को दासत्व के बंधन से मुक्त कर दिया और वह भिक्षुणी संघ में प्रव्रजित हो, स्वयं भव-मुक्त हुई।

दासी खुज्जुत्तरा

कौशांबी के सेठ घोषित की धाय की पुत्री थी खुज्जुत्तरा। नाम था उत्तरा, पर कुबड़ी होने के कारण खुज्जुत्तरा, यानी कुब्जा- उत्तरा कहलाती थी। बड़ी होकर वह कौशांबी की रानी श्यामावती की क्रीत-दासी हो गयी। वह प्रतिदिन रानी के लिए बाजार से फूल खरीदने जाती थी। रानी उसे फूलों के लिए आठ मुद्राएं दिया करती थी, जिनमें से चार वह फूल खरीदने में लगा देती और बाकी चार अपने लिए बचा लेती थी। एक बार जब वह फूल खरीदने गयी तब उसने नगर में भगवान बुद्ध का उपदेश सुना। सुनते-सुनते

ही उदय-व्यय और निरोध का साक्षात्कार कर स्रोतापत्ति फल प्राप्त कर लिया। अब खुज्जुत्तरा बिल्कुल बदल गयी। वह अपनी मालकिन के लिए सभी आठ मुद्राओं के फूल खरीद कर ले गयी। अब उसके लिए चार मुद्राएं चुरा रखना कठिन हो गया। इसे उसने अधर्म समझा। इतने सारे फूल देख कर रानी श्यामावती ने कारण पूछा। खुज्जुत्तरा ने सारी स्थिति सही-सही कह सुनायी। श्यामावती ने खुज्जुत्तरा के मुँह से भगवान का उपदेश सुना। वह बहुत प्रभावित हुई। अब वह रोज भगवान से उपदेश सुन कर आती और श्यामावती तथा रनिवास की अन्य नारियों के सामने उसे दोहरा देती। रानी श्यामावती उसके मुँह से भगवान के उपदेश सुन-सुन कर बहुत आह्लादित होती। वह खुज्जुत्तरा से भगवान का उपदेश सुनती, तब उसे ऊंचे आसन पर बिठा कर स्वयं नीचा आसन लेकर बैठती। खुज्जुत्तरा के प्रति रानी श्यामावती की श्रद्धा बढ़ने लगी। उसने उसे दासी के बंधन से मुक्त किया और अपनी सगी मां की भांति पूज्य मानने लगी; खुज्जुत्तरा ने उसे सद्धर्म में नया जन्म जो दिया था।

खुज्जुत्तरा भगवान की प्रमुख गृहस्थ शिष्याओं में से एक हुई। भगवान ने कहा -

एतदग्गं, भिक्खवे, मम साविकानं उपासिकानं बहुस्सुतानं यदिदं खुज्जुत्तरा।

(अ० नि० १.१.२५८,२६०, एतदग्गवग्ग)

- भिक्षुओ, ये जो मेरी बहुश्रुत श्राविकाएं हैं, उपासिकाएं हैं, खुज्जुत्तरा उनमें अग्र है।

भूखा किसान

भिक्षु संघ के साथ धर्मचारिका करते हुए भगवान आलवी पहुँचे। आलवी के नागरिकों ने भगवान को भिक्षु संघ सहित भोजन पर आमंत्रित किया। भोजन-दान का कार्यक्रम समय पर पूरा हुआ। भोजनोपरांत धर्म-श्रवण के लिए श्रोता-मंडली आ बैठी। भगवान ने देखा, आज के धर्मोपदेश का जिस व्यक्ति को तुरंत लाभ मिलने वाला है, वह व्यक्ति श्रोता-मंडली में नहीं है। भगवान उसकी प्रतीक्षा में बैठे रहे। वह एक किसान था। उसने आज की धर्म सभा में उपस्थित होकर धर्म-लाभ लेने का निश्चय किया था, परंतु सुबह-सुबह उसका एक बैल खो गया। वह उस बैल की खोज में निकल पड़ा। दोपहर तक वह अपना बैल खोज पाया और तदनंतर थका-मांदा धर्म सभा में उपस्थित हुआ। भगवान ने फिर भी धर्म-देशना नहीं दी। उन्होंने देखा कि वह भूखा है। उसने सुबह से कुछ खाया-पीया नहीं था। भूखा व्यक्ति धर्म नहीं समझ सकता और न ही धारण कर सकता है। अतः पहले उसके लिए भोजन का प्रबंध करवाया। भोजन कर लेने के पश्चात उसका चित्त अनुकूल देख कर भगवान ने धर्म-देशना दी। दत्तचित्त हो सुनते-सुनते उसे स्रोतापत्ति फल प्राप्त हुआ। किसान निहाल हुआ। भगवान ने उसी को लक्ष्य करके कहा -

जिघच्छापरमा रोगा... - भूख सबसे बड़ा रोग है...।

(ध० प० २०३, सुखवग्ग)

उसे दूर करके ही धर्म सिखाया जाना चाहिये।

धनिय कुम्हार

राजगृह का धनिय नामक कुम्हार अपने पूर्वजन्मों के संचित पुण्यों के कारण भगवान के संपर्क में आया। उनके उपदेश सुन कर मन में वैराग्य जागा और वह भिक्षु संघ में प्रव्रजित हो गया। उसने भगवान से विपश्यना साधना की विधि सीखी और एकांत में जाकर उद्योग करते हुए अरहंत अवस्था प्राप्त कर ली। धनिय बड़ा संयमित जीवन जीते थे और ध्यान-भावना में निरत रहते थे। किसी भिक्षु के जीवन में शिथिलता देख कर उन्होंने उसे उद्बोधित करते हुए कहा -

सुखञ्चे जीवितुं इच्छे - यदि सुखपूर्वक जीने की इच्छा है,

सामञ्ञस्मिं अपेक्खवा - यदि श्रमण जीवन जीने की अपेक्षा है तो -

इतरीतरेन तुस्सेय्य - जो मिल जाय, उसी से संतुष्ट रहे,

एकधम्मञ्च भावये – और केवल एक ही धर्म का सेवन करे।

(थेरगा० २२८,२३०, धनियत्थेरगाथा)

जो व्यक्ति केवल एक अप्रमाद धर्म का सेवन कर लेता है, उसके लिए अन्य सारे कुशल धर्मों का सेवन सहज हो जाता है।

धीवर यसोज

श्रावस्ती का यसोज नामक धीवर भगवान के संपर्क में आया, तो धर्म के संपर्क में आया और निर्वेद भाव से घर त्याग कर प्रव्रजित हो गया। भगवान से साधना-विधि सीख कर अरण्य में जाकर एकांत तपने लगा। विघ्न-बाधाओं से विचलित हुए बिना, एकनिष्ठ हो, साधना करते हुए उसने परम अवस्था प्राप्त कर ली। भगवान यसोज से प्रसन्न थे। किसी अवसर पर एक बार उन्होंने यसोज की प्रशंसा करते हुए कहा था–

कालपब्बङ्गसङ्कासो – यह काले, गांठ- गंठीले अंगों वाला है,

किसो धमनिसन्थतो – दुबला पतला है, उभरी नसों से जुड़े शरीर वाला है।

मत्तञ्ञू अन्नपानम्हि – खाने पीने की उचित मात्रा जानने वाला है,

अदीनमानसो नरो – इस व्यक्ति के मन का सारा दुःख-दैन्य दूर हो गया है।

(थेरगा० २४३, यसोजत्थेरगाथा)

भिक्षु यसोज ने स्वयं अरण्य में रहते हुए अनेक कष्ट सहन किये थे। अतः वे अपने साथी साधकों को यही परामर्श देते थे–

समरांगण में आगे रहने वाला हाथी जिस प्रकार तीर भाले आदि का वार सहन करता है, उसी प्रकार अरण्य महावन में रहने वाला भिक्षु मक्खी मच्छरों का स्पर्श सहन करे।

ऋषिदत्त और पुराणस्थापित (वढ़ई)

वे दोनों भगवान के श्रद्धालु शिष्य थे। वे राजा प्रसेनजित पर आश्रित थे। उसी के आश्रय में उनकी आजीविका चलती थी। राजकीय भवन निर्माण के कार्यों में सेवारत थे। एक बार किसी अवसर पर राजा प्रसेनजित और वे दोनों भेष बदल कर किसी सराय में बसेरे के लिए टिके थे। वे दोनों देर तक धर्मचर्चा करते रहे और जब सोये तब जिस दिशा में भगवान विहार कर रहे थे, उस दिशा में सिर करके, राजा प्रसेनजित की ओर पैर करके लेटे और सो गये। प्रसेनजित आश्चर्य-चकित रह गया। ये जो मेरे टुकड़ों पर पलते हैं, ये मेरी ओर पांव करके सो गये हैं; अवश्य ही ये भगवान और उनके शासन अर्थात शिक्षा में विशेष श्रद्धा रखते हैं। यही सत्य था।

(म० नि० २.३७३, धम्मचेतियसुत्त)

तालपुट नाटककार

तालपुट उन दिनों का प्रसिद्ध नृत्यकार, अभिनेता, रंगमंच-निर्देशक एवं निर्माता था। वह पांच सौ नर्तकियों की वृहद मंडली के साथ देश के भिन्न-भिन्न भागों में भ्रमण करता हुआ नाटकों का प्रदर्शन कर अपनी आजीविका चलाता था। वह भगवान के संपर्क में आया और उनकी धर्म-देशना सुन कर प्रव्रजित होने के लिए आतुर हो उठा। उसने अपने उद्गार इस प्रकार प्रकट किये–

कदा नुहं भिन्नपटन्धरो मुनि, कासाववत्थो अममो निरासो।

– मैं कब फटे हुए चीवर धारण कर, काषाय वस्त्रधारी, ममत्व और कामना से मुक्त हो,

रागञ्च दोसञ्च तथेव मोहं, हन्त्वा सुखी पवनगतो विहस्सं।

(थेरगा० १०९५, तालपुटत्थेरगाथा)

– राग, द्वेष और मोह का हनन कर सुखपूर्वक वन में जाकर विहरूंगा।

महावत हत्थारोहक

वह श्रावस्ती का एक कुशल पीलवान-पुत्र था। हाथियों को वश में कर लेने की परंपरागत कला में दक्ष था। समय पाकर वह भगवान के पास प्रव्रजित हुआ। जिस कुशलता से हाथी को वश में किया करता था, उसी कुशलता से चित्त को वश में करते हुए उसने परम पद प्राप्त किया। अपने उद्यम का पुनः अवलोकन करते हुए उन्होंने यह उदान गाया –

इदं पुरे चित्तमचारि चारिकं, येनिच्छकं यत्थकामं यथासुखं।

– पहले यह चित्त मनमाने ढंग से जहां अच्छा लगा और जहां चाहा, वहीं स्वच्छंद विचरण करता रहा,

तदज्जहं निग्गहेस्सामि योनिसो, हत्थिप्पभिन्नं विय अङ्कुसग्गहो।

(थेरगा० ७७, हत्थारोहपुत्तत्थेरगाथा)

– उसे आज मैं भली प्रकार वश में करूंगा, वैसे ही जैसे कि मतवाले हाथी को अंकुशधारी महावत वश में कर लेता है।

उपालि नाई

शाक्य राजा भद्दिय और शाक्य राजकुमार अनुरुद्ध, आनंद, भृगु, किम्बिल और देवदत्त जब भगवान के पास प्रव्रजित होने के लिए कपिलवस्तु से मल्लों के निगम अनुप्रिया आये, तब उनके साथ उनका सेवक उपालि नाई भी था। अपने राज्य की सीमा पार कर मल्ल राज्य में प्रवेश करते हुए सभी शाक्यों ने अपने राजसी वस्त्राभूषण उतार कर, उन्हें एक दुपट्टे में बांध कर उपालि नाई को देते हुए कहा कि अब तुम लौट जाओ। यह धन तुम्हारे जीवन भर की आजीविका के लिए पर्याप्त है।

उपालि गठरी लेकर लौट चला, परंतु कुछ दूर चलने पर उसके मन में एक विचार कौंधा कि शाक्य बड़े चंड स्वभाव के होते हैं। उन्हें कहीं यह शक हो गया कि मैंने कुमारों की हत्या कर दी है और उनके वस्त्राभूषण लूट लाया हूं, तो वे मुझे अवश्य मरवा डालेंगे। ये राजकुमार जब इतना

वैभव-ऐश्वर्य त्याग कर प्रव्रजित हो रहे हैं, तो अवश्य इसमें अपना भला समझते हैं। मैं भी क्यों न इनके साथ प्रव्रजित हो जाऊं। यह सोच उसने वस्त्राभूषणों की गठरी एक पेड़ पर टांग दी और मन में यह संकल्प किया –

यो पस्सति, दिन्नंयेव – जो देखे, उसी को दी।

(चूळव० ३३१, छसक्यपब्बज्जाकथा)

हरतु – भले ले जाय।

वस्त्राभूषण की गठरी त्याग कर उपालि नाई उल्टे पांव शाक्य राजकुमारों के पास लौट आया और उनके साथ ही प्रव्रजित होने के लिए तत्पर हुआ। शाक्य राजकुमार खुश हुए। भगवान के पास पहुँच कर उन्होंने भगवान से प्रार्थना की –

भंते, हम शाक्य बड़े अहंकारी होते हैं। यह उपालि नाई चिरकाल से हमारा सेवक रहा है। भगवान पहले इसे प्रव्रजित करें, जिससे कि प्रव्रज्या में बड़ा होने के कारण हम नित्य इसको नमन किया करें, इसकी वंदना किया करें, ताकि हमारा शाक्य होने का मिथ्या मान मर्दित हो।

भगवान ने ऐसा ही किया। प्रव्रज्या में उपालि नाई अन्य शाक्य कुमारों का अग्रज हुआ।

उपालि ने भिक्षु नियमों का कड़ाई से पालन करते हुए साधना द्वारा अरहंत अवस्था प्राप्त की। उपालि केवल शाक्य कुमारों के ही अग्रज नहीं हुए, बल्कि भगवान के विनयधर श्रावकों में भी अग्र पद पर प्रतिष्ठित हुए।

विनयधर वे कहलाते थे जिन्हें भिक्षु-विनय के सारे नियम कंठस्थ ही नहीं थे, प्रत्युत जो उन्हें कड़ाई से धारण भी करते थे।

एतदग्गं, भिक्खवे, मम सावकानं भिक्खूनं विनयधरानं यदिदं उपालि।

(अ० नि० १.१.२१९,२२८, एतदग्गवग्ग)

– भिक्षुओ, मेरे विनयधर भिक्षु श्रावकों में उपालि अग्र हैं।

मंदबुद्धि चुल्लपंथक

भगवान के शिष्यों में जहां ऐसे अनेक सुप्रज्ञ भिक्षु थे जो कि सुत्तधर, विनयधर और मातिकाधर थे और जहां आनंद जैसे महान स्मृतिमान थे जो भगवान की सारी वाणी कंठस्थ रखने वाले थे, जिन्हें भगवान ने एक नहीं, दो नहीं, चार नहीं, पांच-पांच विषयों में अग्रता की उपाधि दी थी, वहां दूसरी ओर चुल्लपंथक जैसा अत्यंत मंदबुद्धि शिष्य भी था।

बड़े भाई महापंथक ने उसे भगवान के विहार से इसलिए निकाल बाहर किया कि वह चार महीनों में चार चरणवाली एक गाथा तक याद नहीं कर सका। विहार के बाहर उसे अश्रुमुख देखा तो महाकारुणिक शास्ता की करुणा उमड़ पड़ी और -

भगवा तत्थ आगच्छि - भगवान वहां आये और -

सीसं मय्हं परामसि - मेरे सिर पर हाथ फेरा और -

बाहाय मं गहेत्वान - मेरी बाँह पकड़ कर,

सङ्घारामं पवेसयि - संघाराम में प्रवेश करवाया।

(थेरगा० ५५९, चूळपन्थकत्थेरगाथा)

वहां भगवान ने अनुकंपा करके उसे ध्यान के लिए ऐसा आलंबन दिया जो उसके उपयुक्त था। शास्ता 'शास्ता' थे। खूब जानते थे कि साधक की वर्तमान मनःस्थिति क्या है? उसका भूतकाल का अनुभव क्या है? उसकी क्षमता क्या है? उसी के अनुकूल उसे कर्मस्थान देते थे, यानी साधना-विधि सिखाते थे और उसी के उपयुक्त ध्यान का आलंबन देते थे। मंदबुद्धि चुल्लपंथक को अनुपमः शास्ता का अनुपम अनुशासन मिला। वे ध्यान करते हुए अचिरकाल में परम मुक्तावस्था तक पहुँच गये। यही नहीं, उन्होंने ऐसी ऋद्धियां उपलब्ध कीं, जिनकी वजह से भगवान ने उन्हें दो बार अग्र की उपाधि से विभूपित किया।

अनुपम शास्ता

तो यह देखी हमने उन अनुपम शास्ता के कुछ एक शिष्यों की बहुरंगी छटा। शास्ता सचमुच लोकगुरु थे, **सत्था देवमनुस्सानं** थे। मनुष्यलोक के मनुष्यों के और देवलोक के देवताओं के शास्ता थे। वे ब्रह्मलोक के ब्रह्माओं के भी शास्ता थे। मनुष्यलोक में भी राजा और प्रजा सबके शास्ता थे, एकतंत्रीय राजाओं के भी और गणतंत्रीय राजाओं के भी; राजमहिषियों के भी, राजकुमारों और राजकुमारियों के भी। राजपरिवार के और राज-अमात्यों के, राजमंत्रियों के, राज- सेनापतियों सहित अन्य अनेक राजपुरुषों के भी शास्ता थे। प्रजा में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों, अंत्यजों, पुक्कुसों, चांडालों के भी शास्ता थे। धनवानों के और धनहीनों के भी, विद्वानों और अनपढ़ों के भी शास्ता थे। पुरुष-नारी, आबाल-वृद्ध सबके शास्ता थे।

वे जहां जाते, समूह के समूह लोग उनसे मिलने और उनसे धर्मोपदेश सुनने चले आते थे। जैसे -

ब्राह्मणगहपतिके चम्पाय निक्खमित्वा सङ्घसङ्घी गणीभूते येन गग्गरा पोक्खरणी तेनुपसङ्कमन्ते।

- समूह के समूह ब्राह्मण गृहपति चंपा से निकल कर गर्गरा पुष्करिणी जा रहे थे।

क्यों जा रहे थे -

तमेते भवन्तं गोतमं दस्सनाय उपसङ्कमन्ति।(दी० नि० १.३०२, सोणदण्डसुत्त)

- वे वहां भगवान गौतम के दर्शनार्थ जा रहे थे।

स्थान-स्थान पर परिषद-की-परिषद उनसे मिलती और अलग-अलग व्यक्ति भी उनसे मिलते। भगवान सबको यथायोग्य उपदेश देते।

भिक्खूनञ्चेपि भिक्खवे, तथागतो धम्मं देसेति, ...। भिक्खुनीनञ्चेपि... उपासकानञ्चेपि... उपासिकानञ्चेपि... पुथुज्जनानञ्चेपि... अन्तमसो अन्नभारनेसादानम्पि।

– भिक्षुओ, तथागत भिक्षुओं को भी, भिक्षुणियों को भी, उपासकों को भी, उपासिकाओं को भी, सामान्य जनों को भी और यहां तक कि अन्न ढोने वाले मजदूरों को, शिकारियों तक को भी धर्मोपदेश देते थे।

सक्कच्चञ्ञेव तथागतो धम्मं देसेति, नो असक्कच्चं।

– भलीभांति समझा कर तथागत धर्मोपदेश देते थे, बिना समझाये नहीं।

शिष्यों की योग्यता, क्षमता, ग्राहकता को समझ-समझ कर उनके अनुकूल धर्मोपदेश देते थे। उन्हें कोई संप्रदाय का वाड़ा नहीं बांधना था। उन्हें कोई दार्शनिक मान्यता लोगों के गले नहीं उतारनी थी। उन्हें कोई विद्वत्ता प्रदर्शित नहीं करनी थी। उन्हें लोक कल्याण के लिए शुद्ध धर्म सिखाना था; यही एकमात्र ध्येय था। उनके लिए धर्म का महत्व था, और कुछ नहीं। तभी कहा –

धम्मगरु, भिक्खवे, तथागतो धम्मगारवो। (अ० नि० २.५.९९, सीहसुत्त)

– भिक्षुओ, तथागत धर्म की पूजा करने वाले हैं, धर्म का गौरव करने वाले हैं।

इसलिए जो उनके संपर्क में आया, वही निहाल हो गया। मन के मैल उतार कर शास्ता के रंग में रंग गया, शुद्ध धर्म के रंग में रंग गया।

भगवान सही माने में छोटे-बड़े, देव- मनुष्य सबके शास्ता थे, कल्याणकारी शास्ता थे।

इतिपि सो भगवा सत्था देवमनुस्सानं।

इतिपि सो भगवा बुद्धो

इतिपि सो भगवा बुद्धो

वे भगवान ऐसे बुद्ध भी थे।

जो भगवान सम्यक संबुद्ध थे, वे बुद्ध तो थे ही। अतः सम्यक संबुद्ध के गुणों की व्याख्या कर चुकने के बाद 'बुद्ध' के गुणों की और अलग से क्या व्याख्या की जाय? परंतु बुद्ध तो बुद्ध हैं, गुणों के अक्षय भंडार हैं। व्याख्या करने वाले भले थक जायँ, पर बुद्ध-गुणों का अंत नहीं। हम देखते हैं कि तिपिटक बुद्ध के गुणों का कोषागार है। आओ, इस बहाने भगवान बुद्ध के कुछ अन्य गुणों पर एक दृष्टि डाल लें।

शांत, शीतलीभूत

जिसे बोधि प्राप्त होती है, उसे इंद्रियातीत अर्थात छहों इंद्रियों के परे की नित्य, शाश्वत, ध्रुव, निर्वाण-अवस्था का गहरा अनुभव हो जाता है। अतः ऐंद्रिय और इंद्रियातीत क्षेत्रों का परिपूर्ण ज्ञान हो जाता है। इंद्रियातीत अवस्था परम शांति और शीतलता की अवस्था है। इस अवस्था में से गुजरे हुए बुद्ध स्वयं शांत और शीतल हो जाते हैं। उनके राग, द्वेष और मोह की अग्नि पूर्णतया निवृत्त हो जाती है, बुझ जाती है। अतः वे विकारों की तपन से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं। इसी माने में शांत हो जाते हैं, शीतलीभूत हो जाते हैं।

हम देखते हैं, भगवान बुद्ध अंतर्मन की गहराइयों तक शांत थे। अतः उनकी वाणी का एक-एक शब्द शांति रस से सराबोर था। उनकी वाणी में मंगलमय शुद्ध धर्म समाया हुआ था। उनकी वाणी बड़ी शांतिप्रद, स्पष्ट और हृदयग्राही थी। उसे सुनने वालों का चित्त भी शांत हो जाता था। लोग उन्हें दत्तचित्त होकर सुनते थे, मंत्रमुग्ध होकर सुनते थे। सुनते समय परस्पर बातचीत करना तो दूर रहा, खांसना और खंखारना तक भूल जाते थे।

अन्य धर्मगुरुओं की धर्मसभा में उनके शिष्य बीच-बीच में बोल जाते थे। वे धर्मगुरु उन्हें मौन नहीं रख पाते थे। हम देखते हैं कि धर्मगुरु पूर्ण काश्यप अपने शिष्यों को मौन रखने में कितना असफल रहता है –

पूरणो कस्सपो बाहा पग्गय्ह कन्दन्तो न लभति –

– पूर्ण काश्यप बांह उठा कर सर्वथा असफल रह कर ही चिल्लाते थे –

अप्पसद्दा भोन्तो होन्तु, मा भोन्तो सद्दमकत्थ – आप सब चुप रहें, आवाज न निकालें।

नेते, भवन्ते, पुच्छन्ति – ये लोग आपसे नहीं पूछ रहे हैं,

अम्हे एते पुच्छन्ति – ये हमसे पूछ रहे हैं।

मयमेतेसं ब्याकरिस्साम – हम ही इसका उत्तर देंगे।

(म० नि० २.२३९, महासकुलुदायिसुत्त)

परंतु उसकी कौन सुनता? उसके शिष्य बीच-बीच में बोल ही पड़ते थे।

इसी प्रकार हम देखते हैं ब्राह्मण सेल अपने बातूनी शिष्यों को चुप रखने का भरसक प्रयत्न करता है –

यदा चाहं, भो, समणेन गोतमेन सद्धिं मन्तेय्यं,

– जब मैं श्रमण गौतम के साथ बातचीत करूं, तब –

मा मे भोन्तो अन्तरन्तरा कथं ओपातेथ – आप लोग मेरे बीच में न बोलें।

कथापरियोसानं मे भवन्तो आगमेन्तु। (म० नि० २.३९८, सेलसुत्त)

– आप लोग मेरे कथन की समाप्ति तक चुप रहें।

ये धर्मगुरु जानते थे कि उनके शिष्यों की बीच-बीच में बोलने की बुरी आदत है। अतः उन्हें प्रयत्नपूर्वक मौन रखा जाता था। तिस पर भी कोई-कोई सफल नहीं ही हो पाते थे; जबकि भगवान की श्रोतामंडली पूर्णतया मौन रह कर उन्हें सुनती थी।

राजा प्रसेनजित ने कहा कि जब मैं राजकार्य में बहुत निमग्न रहता हूं, तब कोई न कोई दरबारी बीच में बोल कर मेरा ध्यान भंग कर देता है। मैं

उन्हें डांटता हूं कि जब तक काम पूरा न हो जाय, तब तक सब मौन रहें। परंतु वह उन्हें मौन रखने में सदा असफल रहता था। इस पर उसने कहा –

इध पनाहं, भन्ते, भिक्खू पस्सामि – किंतु भंते, यहां मैं भिक्षुओं को देखता हूं,

जितनी देर भगवान अनेक सौ की संख्या वाली परिषद को धर्मदेशना देते हैं,

नेव तस्मिं समये भगवतो सावकानं खिपितसद्दो वा होति उक्कासितसद्दो वा।

– उतनी देर भगवान के श्रावकों के थूकने और खांसने तक का शब्द नहीं होता।

भगवान की किसी धर्म सभा का अनुभव बताते हुए राजा प्रसेनजित आगे कहता है कि एक बार भगवान सैकड़ों की संख्या वाली बड़ी सभा में धर्मोपदेश दे रहे थे। सभी शांत-चित्त मौन रह कर सुन रहे थे। इतने में एक श्रावक को खांसी आयी। तब पास बैठे उसके साथी ने उसके घुटने को दबा कर संकेत से समझाया –

अप्पसद्दो आयस्मा होतु – आयुष्मान, निःशब्द रहें।

मायस्मा सद्दमकासि – आवाज न निकालें।

सत्था नो भगवा धम्मं देसेति – हमारे शास्ता भगवान धर्म उपदेश दे रहे हैं।

(म० नि० २.३७०, धम्मचेतियसुत्त)

और बस, श्रावक का खांसना बंद हो गया। सभी मौन रह कर सुनते रहे। प्रसेनजित यह देख कर विस्मित हुआ –

अच्छरियं वत, भो, अब्भुतं वत, भो!

– अरे, सचमुच आश्चर्य है भाई, अद्भुत है भाई!

अदण्डेन वत किर, भो, असत्थेन एवं सुविनीता परिसा भविस्सति।

(म० नि० २.३७०, धम्मचेतियसुत्त)

- जो बिना डंडे और बिना शस्त्र का प्रयोग किये यह परिषद इतनी विनीत रहती है।

अमृत अभिषेक

भगवान की वाणी ऐसी सुखदा थी, शांतिदा थी, सुधा सिंचित थी कि सुनने वालों का मन प्रसन्नता से भर उठता था। वह मौन रह कर सुनता ही रह जाता था, मानो अमृत की वर्षा हो रही हो। एक प्रसंग हमारे सामने आता है -

एक बार गृहपति नकुलपिता के खिले हुए चेहरे पर प्रकट हो रही प्रसन्नता देख कर सारिपुत्त ने उसका कारण पूछा। नकुलपिता ने उत्तर दिया -

इदानाहं, भन्ते, भगवता धम्मिया कथाय अमतेन अभिसित्तो।

(सं० नि० २.३.१, नकुलपितुसुत्त)

- भंते, मैं अभी-अभी भगवान के धर्मकथा- रूपी अमृत से अभिषिक्त हुआ हूं।

जहां अमृत का ऐसा अभिषेक हो रहा हो, वहां सुनने वाला बीच में बोल कर मौन भंग कैसे करता भला?

मौन की ही शिक्षा

भगवान स्वयं मौन और शांतता के प्रेमी थे। अपने शिष्यों को भी मौन और शांत रहने की शिक्षा देते थे। स्वयं जब बोलते थे, तब धर्म सिंचित वाणी ही बोलते थे, अन्यथा मौन रहते थे। अपने शिष्यों को भी यही सिखाते थे। बतरस के लोभी भिक्षुओं को सांसारिक वार्त्ता से दूर रहने के लिए भगवान द्वारा अनेक बार उद्‌बोधित किये जाते हुए हम देखते हैं।

हमारे सामने एक दृश्य आता है -

श्रावस्ती के अनाथपिंडिक प्रदत्त जेतवनाराम में भगवान विहार कर रहे हैं। बहुत से भिक्षु भिक्षाटन से लौट कर आहार ग्रहण कर चुकने के बाद

धर्मसभा-मंडप में इकट्ठे होकर अनेक प्रकार की सांसारिक बातों में संलग्न हैं। राजा, चोर, महामात्य, सेना, भय, युद्ध, भोजन-पान, वस्त्र, शयन, माला, गंध, कुटुंब, नुक्कड़कथा, पनघटकथा, वाहन, ग्राम, निगम, नगर, जनपद, नारी, शूरवीर, पूर्व-प्रेत प्राणी, नाना जीव, सृष्टि की रचना, ज्योतिष, भवाभव आदि-आदि अनेक प्रकार के लौकिक विषयों पर बातचीत करने में संलग्न हैं। भगवान यह देखते हैं तो उन्हें फटकारते हुए कहते हैं -

न खो पनेतं, भिक्खवे, तुम्हाकं पतिरूपं कुलपुत्तानं सद्धाय अगारस्मा अनगारियं पब्बजितानं,

भिक्षुओ, तुम्हारे जैसे कुलपुत्रों के लिए, जो कि घर से बेघर हो प्रव्रजित हुए हैं, यह उचित नहीं है कि -

यं तुम्हे अनेकविहितं तिरच्छानकथं अनुयुत्ता विहरेय्याथ।

- तुम इन अनेक प्रकार की निरर्थक बातों में संलग्न रहो।

दसयिमानि, भिक्खवे, कथावत्थूनि।

भिक्षुओ, बातचीत करने के लिए ये दस उपयुक्त विषय हैं।

कौन-से दस?

- अल्पेच्छता, संतुष्टि, प्रविवेक, असंसर्ग, पुरुषार्थ, शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति और विमुक्तिज्ञान-दर्शन।

भिक्षुओ, यदि तुम इन्हीं दस विषयों पर बातचीत करो, तो इनसे प्रेरित होकर साधना करते हुए तुम सूर्य और चंद्र को भी अपने तेज से अभिभूत कर दोगे।

को पन वादो अञ्ञतित्थियानं परिब्बाजकानं।

(अ० नि० ३.१०.६९, पठमकथावत्थुसुत्त)

- यह जो दूसरे संप्रदाय वाले परिव्राजक हैं, उनका तो कहना ही क्या?

भगवान बार-बार कहते थे -

सन्निपतितानं वो, भिक्खवे, द्वयं करणीयं – भिक्षुओ, इकट्ठे होने पर तुम्हें दो ही काम करने चाहिये

धम्मी वा कथा, अरियो वा तुण्हीभावो। (उदा० १२, राजसुत्त)

– या तो धर्म-चर्चा अथवा आर्य मौन।

आर्य मौन

आर्य मौन उसे कहते हैं जिसे धारण करने वाला साधक वाणी से तो मौन रहता ही है, काया से भी मौन रहता है, दूसरे शब्दों में संकेतों और इशारों से भी बातचीत नहीं करता और मन से भी मौन रहता है, अवितर्क, अविचार समाधि में स्थित होता है।

इस क्षेत्र में अपना अनुभव व्यक्त करते हुए एक भिक्षु साधक कहता है–

अवितक्कं समापन्नो, सम्मासम्बुद्धसावको।

– सम्यक संबुद्ध का श्रावक जब अवितर्क अर्थात मन की मौनावस्था में स्थित होता है,

अरियेन तुण्हीभावेन उपेतो होति तावदे।

(थेरगा० ६५०, खदिरवनियरेवतत्थेरगाथा)

– उस समय वह आर्य मौन संपन्न होता है।

जो वाणी का ही मौन नहीं साधता, वह आर्य मौन कैसे साध पायेगा? वाणी का मौन साधने के लिए वाणी को संयमित करना होता है। यदि वार्त्तालाप करना आवश्यक हो तो धर्म की ही वाणी बोले, सुने। साधक सांसारिक बातों में रस लेने लगता है, तो बात पर बात बढ़ती जाती है और बात भी निस्सार एवं निरर्थक। कभी-कभी तो विग्रह-विवाद का रूप धारण कर लेती है और–

विग्गाहिकाय, मोग्गल्लान, कथाय सति – हे मोग्गल्लान, विग्रह-विवाद होने पर,

कथाबाहुल्लं पाटिकङ्खं – बात बढ़ने की ही संभावना रहती है।

कथाबाहुल्ले सति उद्धच्चं – बात बहुत बढ़ने पर उद्धतता बढ़ जाती है।

उद्धतस्स असंवरो – उद्धतता से संयम छूट जाता है।

असंवुतस्स आरा चित्तं समाधिम्हा – असंयत का चित्त समाधि से दूर रहता है।

(अ० नि० २.७.६१, पचलायमानसुत्त)

अतः यदि बातचीत करनी ही हो, तो धर्म- चर्चा करे। कुछ देर धर्म-चर्चा करता रहता है, तो धर्म-साधना के लिए यथोचित प्रेरणा और मार्गदर्शन प्राप्त कर ध्यान में लग जाता है और अर्थसिद्धि कर लेता है।

हम गंभीर साधकों को इसी प्रकार काम करते देखते हैं। मिल-बैठ कर कोई बात करते हैं तो धर्म की ही, अभिधर्म की ही बात करते हैं।

तेन खो पन समयेन सम्बहुला थेरा भिक्खू,

– उस समय बहुत से स्थविर भिक्षु, अर्थात बड़ी उम्र के गंभीर भिक्षु,

पच्छाभत्तं पिण्डपातपटिक्कन्ता,

– पिंडपात यानी गोचरी से लौट कर भोजन कर लेने के पश्चात–

मण्डलमाळे सन्निसिन्ना, सन्निपतिता – गोलाकार मंडप में इकट्ठे बैठ कर,

अभिधम्मकथं कथेन्ति – अभिधर्मसंबंधी बातचीत कर रहे थे।

(अ० नि० २.६.६०, हत्थिसारिपुत्तसुत्त)

धार्मिक वार्त्ता के लिए भिक्षुओं का पारस्परिक संसर्ग भगवान को स्वीकार्य है, बशर्ते कि वह ध्यान के लिए उपयुक्त हो, प्रेरणादायक हो, कोरे बुद्धि-विलास और वाणी-विलास के लिए न हो। भगवान के लिए ध्यान-साधना का महत्व ही प्रमुख है, प्रधान है।

इसीलिए भगवान ने कहा है–

नाहं, मोग्गल्लान, सब्बेहेव संसग्गं वण्णयामि।

– मोग्गल्लान, मैं सारे संसर्गों की प्रशंसा नहीं कर रहा।

न पनाहं, मोग्गल्लान, सब्बेहेव संसग्गं न वण्णयामि।

– और मोग्गल्लान, न मैं सारे संसर्गों की निंदा करता हूं।

सगहट्ठपब्बजितेहि खो अहं, मोग्गल्लान, संसग्गं न वण्णयामि।

– मैं प्रव्रजितों का गृहस्थों के संसर्ग में रहना ही अप्रशंसनीय कहता हूं।

अध्यानी गृहस्थों का संसर्ग ध्यानी साधकों के ध्यान में बाधक ही बनता है। परंतु यदि भिक्षु साधक ध्यान के लक्ष्य से परस्पर मिल-जुल कर उपयुक्त वातावरण में रहें, तो भगवान को यह संसर्ग स्वीकार्य है।

यानि च खो तानि सेनासनानि – परंतु जो ऐसे निवास स्थान हैं,

अप्पसद्दानि अप्पनिग्घोसानि – जहां कोलाहल और हल्ला-गुल्ला नहीं है,

विजनवातानि मनुस्सराहस्सेय्यकानि – जो निर्जन हैं, अजनाकीर्ण हैं,

पटिसल्लानसारुप्पानि – तथा जो ध्यान में संलीन हो सकने के लिए उपयुक्त हैं।

तथारूपेहि सेनासनेहि संसग्गं वण्णयामि।

(अ० नि० २.७.६१, पचलायमानसुत्त)

– ऐसे निवास-स्थानों पर साथ रहने की मैं प्रशंसा करता हूं।

लक्ष्य ध्यान-साधना में निपुण होना है। इस कार्य में जो बाधक हो, वह स्वीकार्य नहीं है; जो साधक हो, वह स्वीकार्य है।

इस विषय में एक साधक ने अपनी अनुभूतियों को इन शब्दों में प्रकट किया है –

आरञ्ञकानि सेनासनानि, पन्तानि अप्पसद्दानि।

– जो अरण्य के एकांत, निःशब्द निवास स्थान हैं,

भजितब्बानि मुनिना, एतं समणस्स पतिरूपं।

(थेरगा० ५९२, अपरगीतमत्थेरगाथा)

– मुनि को उनका सेवन करना चाहिए। ऐसा सेवन श्रमण के अनुरूप है।

सचमुच यही साधना के अनुरूप है।

मेघिय

परंतु साधक यदि साधना में कमजोर हो, तो ध्यान के लिए कितना ही अनुकूल वातावरण क्यों न हो, सफलता उससे दूर रहती है। यह उन दिनों की बात है जब भगवान का उपस्थाक (वैयक्तिक सहायक) मेघिय था। आनन्द तब तक इस पद पर नियुक्त नहीं हुए थे। मेघिय परिपक्व साधक नहीं था। उसने किमिकिला नदी के तीर पर एक मनोरम, रमणीय और एकांत आम्रवन देखा। भगवान के पास आकर उसने उस आम्रवन में ध्यान के लिए जाने की इच्छा प्रकट की। भगवान ने उसे रोकना चाहा, परंतु उसका प्रबल आग्रह देख कर जाने की अनुमति दे दी। वहां जाकर ध्यान करते हुए उसके मन में काम, क्रोध और हिंसाजन्य विचारों के तीव्र तूफान उठने लगे। वह घबरा कर लौट आया और उसने भगवान के सामने अपनी कठिनाई रखी। भगवान उसे इसीलिए रोक रहे थे, पर उसने नहीं माना और परिणामस्वरूप व्याकुल होकर लौटा। भगवान ने उसे समझाया कि साधना की सफलता के लिए एकांत और निःशब्द वातावरण के साथ-साथ पांच अन्य आवश्यकताएं भी हैं, जिनमें से प्रमुख और पहली है – किसी कल्याणमित्र का साथ होना। कल्याणमित्र सदा धर्मसंबंधी बातचीत ही करता है और सच्चे साधक को उसके द्वारा उचित मार्गदर्शन और प्रेरणा प्राप्त होती रहती है।

इसीलिए साधना में पकने के लिए आर्य मौन अथवा धर्म-चर्चा को इतना महत्त्व दिया गया। जो गंभीर साधक होते थे, वे कभी- कभी एक साथ वन में तपने चले जाते थे। एक बार तीन शाक्यकुलीय गंभीर भिक्षु एकांत वन में ध्यान करने गये। बाहर के लोग उनके ध्यान में विघ्न न पैदा करें, इसलिए वनरक्षक राजकर्मचारी से प्रार्थना की कि उनके ध्यान के स्थान पर अन्य किसी को न आने दें। कुछ दिनों के बाद स्वयं भगवान उस राह से गुजरे। वनरक्षक ने उन्हें वन की ओर जाने से रोका। साधकों में से एक ने यह देखा तो द्वारपाल से कहा –

मा, आवुसो दायपाल, भगवन्तं वारेसि – आयुष्मान वनरक्षक, भगवान को मत रोको।

सत्था नो भगवा अनुप्पत्तो – हमारे शास्ता भगवान आये हैं।

(म० नि० १.३२५, चूळगोसिङ्गसुत्त)

और फिर साधकों की भगवान से बातचीत हुई। साधकों ने बताया कि किस प्रकार बिना एक शब्द बोले वे पांच दिनों तक मौन रहकर ध्यान करते हैं। और –

पञ्चाहिकं खो पन मयं, भन्ते, सब्बरत्तिकं धम्मिया कथाय सन्निसीदाम।

– भंते, पांचवें दिन की सारी रात हम बैठ कर धर्म-चर्चा करते हैं।

एवं खो मयं, भन्ते, अप्पमत्ता आतापिनो पहितत्ता विहराम।

(म० नि० १.३२७, चूळगोसिङ्गसुत्त)

– भंते, इस प्रकार हम लोग प्रमादरहित होकर परिश्रमपूर्वक तपते हुए विहार करते हैं।

कल्याणकारी साथी

साधक सदा ऐसे ही साथी चुनें, जो साधना में सहायक हों, कल्याणकारी हों।

सचे लभेथ निपकं सहायं, सद्धिंचरं साधुविहारिधीरं।
अभिभुय्य सब्बानि परिस्सयानि, चरेय्य तेनत्तमनो सतीमा॥

– यदि सचमुच परिपक्व, साधु वृत्ति का धीर, गंभीर सहायक साथी मिले, तो सब बाधाओं को हटा कर प्रसन्न चित्त से स्मृतिमान हो, उसके साथ विचरण करे।

और यदि ऐसा कल्याणकारी साथी न मिले तो –

राजाव रट्ठं विजितं पहाय, एको चरे मातङ्गरञ्ञेव नागो।

(ध० प० ३२८-३२९, नागवग्ग)

– विजित राष्ट्र को त्यागने वाले राजा की भांति जंगल में एक गजराज-सदृश अकेला विचरे।

अद्धा पसंसाम सहायसम्पदं, सेट्ठा समा सेवितब्बा सहाया।

– मित्र-लाभ की हम प्रशंसा करते हैं। श्रेष्ठ और बराबरी वाले मित्रों की संगत अवश्य करनी चाहिए, परंतु –

एते अलद्धा अनवज्जभोजी – ऐसे निर्दोष आजीविका वाले साथी के न मिलने पर,

एको चरे खग्गविसाणकप्पो – गेंडे के सींग की भांति अकेला विचरण करे।

अकेला विचरण करने से पहले किसी योग्य कल्याणमित्र से धर्म की गहराइयों को अवश्य समझ ले, ताकि उचित रूप से साधना कर सके।

बहुस्सुतं धम्मधरं भजेथ, मित्तं उळारं पटिभानवन्तं।

– किसी बहुश्रुत, महाप्रतिभावान, धर्मधर कल्याणमित्र की संगत कर ले।

अञ्ञाय अत्थानि विनेय्य कङ्खं,

– अर्थपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर, धर्म-साधना संबंधी अपनी शंकाएं दूर कर ले।

और फिर –

एको चरे खग्गविसाणकप्पो – गेंडे के सींग की भांति अकेला विचरण करे।

(सु० नि० ४७,५८, खग्गविसाणसुत्त)

जब मार्गदर्शक से साधना की विधि भली- प्रकार सीख ली, तब भीड़-भाड़ किस काम की? ध्यान के लिए एकांत ही श्रेयस्कर है। बुद्ध यही सिखाते थे।

बोधिसत्त्व महागोविंद

बुद्ध बनने के पूर्वजन्मों में भी बोधिसत्त्व की जीवनचर्या में हम उन्हें एकांत में, अकेले ध्यान करने जाते हुए देखते हैं। ब्राह्मण महागोविंद का जीवन जीते हुए बोधिसत्त्व ने ध्यान के लिए किसी एकांत शून्यागार में प्रवेश किया और अपने साथियों को आज्ञा दी, जिसका पालन करते हुए –

नास्सुध कोचि उपसङ्कमति, अञ्ञत्र एकेन भत्ताभिहारेन।

(दी० नि० २.३१७, महागोविन्दसुत्त)

– एकमात्र भोजन ले जाने वाले को छोड़ कर कोई अन्य वहां नहीं जाता था।

सतत ध्यान के लिए एकांतवास अनिवार्य है। भगवान की इस शिक्षा का उनके शिष्यों पर हम गहरा प्रभाव देखते हैं। एक प्रबुद्ध साधक कहता है –

एकत्तं मोनमक्खातं,

– एकांतवास को ही भगवान ने मुनि का मोनेय्य अर्थात मुनिपन की नैतिक संपूर्णता कही है।

एको चे अभिरमिस्ससि – इसलिए साधक एकांतवास में अभिरमण करे।

(सु० नि० ७२३, नालकसुत्त)

नृत्यकार तालपुट

राजगृह का प्रसिद्ध नर्तक तालपुट प्रव्रजित हुआ। साधक के एकाकी जीवन की उत्कट अभिलाषा प्रकट करते हुए उसने कहा –

कदा नुहं पब्बतकन्दरासु, एकाकियो अद्दुतियो विहस्सं।

(थेरगा० १०९४, तालपुटत्थेरगाथा)

– पर्वत की कंदराओं में बिना किसी दूसरे साथी के मैं कब एकाकी विहार करूंगा?

ब्राह्मण-पुत्र संभूत

राजगृह के धनी ब्राह्मण का पुत्र संभूत। भगवान से प्रव्रजित होकर उसने शीतवन में साधना की और सफल हुआ। उसने अपने उद्गार यों प्रकट किए –

यो सीतवनं उपगा भिक्खु – जो भिक्षु शीतवन में प्रवेश कर,

एको सन्तुसितो समाहितत्तो – एकाकी है, संतुष्ट है, समाधिस्थ है,

विजितावी अपेतलोमहंसो – विजयी है, निर्भय है,

रक्खं कायगतासतिं धितिमा – वह धृतिमान कायानुपश्यना साधना की रक्षा करता है।

(थेरगा० ६, सीतवनियत्थेरगाथा)

वज्जिपुत्त

वैशाली गणतंत्र के एक मंत्री का पुत्र भगवान के संपर्क में आकर प्रव्रजित हुआ और अरण्य में साधना कर परमपद-लाभी हुआ। उसने अपने उद्गार प्रकट करते हुए कहा –

एकका मयं अरञ्ञे विहराम – हम अरण्य में अकेले विहार करते हैं।

(थेरगा० ६२, वज्जिपुत्तत्थेरगाथा)

संकिच्च

राजगृह का ब्राह्मण-पुत्र संकिच्च प्रव्रजित हो साधना में रत हुआ। सफलता प्राप्त कर उसने अपने अनुभव व्यक्त करते हुए कहा –

वसितं मे अरञ्ञेसु, कन्दरासु गुहासु च।
सेनासनेसु पन्तेसु, वाळमिगनिसेविते॥

(थेरगा० ६०२, सङ्किच्चत्थेरगाथा)

अरण्यों में, कंदराओं में, गुफाओं में जहां जंगली जानवरों का निवास है, वहां मैंने एकाकी निवास किया।

पारापरिय

श्रावस्ती के ब्राह्मण कुल में जन्मे और भगवान से प्रव्रजित हो, अरहंत अवस्था को प्राप्त हुए पारापरिय भिक्षु ने भगवान के महापरिनिर्वाण के पश्चात भगवान के समकालीन भिक्षुओं की तपश्चर्या का उल्लेख करते हुए कहा –

अरञ्ञे रुक्खमूलेसु, कन्दरासु गुहासु च।
विवेकमनुब्रूहन्ता, विहंसु तप्परायणा॥

(थेरगा० ९२५, पारापरियत्थेरगाथा)

– अरण्य में, पेड़ों के तले, कंदराओं और गुफाओं में एकांत का अभ्यास करते हुए, वे उसी में रत रहते थे।

महाकाश्यप

हम ऐसे भी अनेक भिक्षुओं को देखते हैं, जो कभी विहारों में अन्य भिक्षुओं के साथ रहते थे और कभी अकेले वन में भी निवास करते थे। उनमें से बहुतों को एकांत विहार ही प्रिय था। उदाहरणस्वरूप हम स्थविर महाकाश्यप को देखते हैं, जो बहुधा जनसमूह में रहते हुए भी एकांत में रहना पसंद करते थे। उन्होंने कहा –

अनाकिण्णा गहट्ठेहि, मिगसङ्घनिसेविता।
नानादिजगणाकिण्णा, ते सेला रमयन्ति मं॥

– गृहस्थों की भीड़-भाड़ से दूर, मृग- समूह से सेवित और नाना प्रकार के विहगों से आकीर्ण जो शैल, पर्वत हैं, वे मुझे प्रिय हैं।

और फिर कहा –

न गणेन पुरक्खतो चरे, विमनो होति समाधि दुल्लभो।

– भीड़ से घिरे हुए विचरण न करे। इससे मन अप्रसन्न होता है और समाधि दुर्लभ हो जाती है।

नानाजनसङ्गहो दुखो, इति दिस्वान गणं न रोचये।

(थेरगा० १०७२,१०५४, महाकस्सपत्थेरगाथा)

– अनेक लोगों का संग दुःखदायी है, उसे देखकर भीड़ की इच्छा न करे।

महामोग्गल्लान

इसी प्रकार हम स्थविर महामोग्गल्लान का भी यह उद्गार देखते हैं –

विवरमनुपभन्ति विज्जुता, वेभारस्स च पण्डवस्स च।

– वेभार और पंडव पर्वतों के बीच बिजली चमकती है,

नगविवरगतो झायति, पुत्तो अप्पटिमस्स तादिनो॥

(थेरगा० ११७६, महामोग्गल्लानत्थेरगाथा)

– लेकिन अप्रतिम बुद्ध का पुत्र उस समय पर्वत गुहा में प्रवेश कर ध्यान करता है।

ध्यान करने के लिए ही अरण्य-वास है, पलायन के लिए नहीं, पर्यटन के लिए नहीं।

एकासन

विपश्यना साधना की जो परंपरा आज तक चली आ रही है, उसमें समय-समय पर बिना हिले-डुले, एक आसन में स्थिर होकर बैठने का बड़ा महत्त्व है। यह जो अधिष्ठानपूर्वक, दृढ़निश्चय होकर बैठना है, वह साधक का मनोबल बढ़ाने के लिए ही नहीं है, मन को मौन करने में भी सहायक होता है। साधना की इस परंपरा के अनुसार साधक जब अधिष्ठान लेकर एक आसन में एक निश्चित समय तक बैठता है तब वाणी के मौन के साथ-साथ काया का मौन भी सधता है, क्योंकि काया से कोई हलन-चलन नहीं होती, काया स्थिर, शांत रहती है। और यों आसन साधे मौन बैठ कर ध्यान करता है, तो प्रयत्न करते हुए मन को वितर्क, विचार विहीन कर लेता है। इसे ही मन का मौन कहते हैं। इस प्रकार –

अवितक्कं समापन्नो – अवितर्कसंपन्न साधक,

अरियेन तुण्हीभावेन – अर्थात आर्य मौन की अवस्था प्राप्त कर लेता है।

(थेरगा० ६५०, खदिरवनियरेवतत्थेरगाथा, ९९८, सारिपुत्तत्थेरगाथा)

इसीलिए इस बात पर बल दिया गया कि –

एकासनस्स सिक्खेथ – एकासन पर स्थिर रहना सीखें।

(सु० नि० ७२३, नालकसुत्त)

अंतिम ध्येय विमुक्ति

परंतु इस प्रकार का आर्य मौन साध लेना मात्र ही भगवान की शिक्षा का अंतिम ध्येय नहीं है। आर्य मौन एक साधन है, साध्य नहीं। वाणी से मौन का तो व्रत ले ले, परंतु मन को मौन करने का कोई प्रयत्न, प्रयास ही न करे तो ऐसा कर्मकांडीय मौनव्रत भी किस काम का? इसी संदर्भ में भगवान ने कहा –

न, भिक्खवे, मूगव्वतं तित्थियसमादानं समादियितब्बं।

– भिक्षुओं, जैसा (निरर्थक) मौनव्रत संप्रदायवादी ग्रहण करते हैं, वैसा न ग्रहण करें। इसी ओर संकेत करते हुए परवर्ती संत गुरु नानकदेव ने कहा –

चुपै चुप न होवई, जे लाइ रहा लिव लार।

– मन की वाचालता बंद करने के लिए वाणी का मौनव्रत है। अन्यथा एक मूक पशु भी मौन रहता है। ऐसे मौन का क्या लाभ? एकासन पर स्थिर होकर बैठना एक साधन है, साध्य नहीं। उन दिनों शरीर को दंड देने का उपक्रम करने वाले अनेक गृहत्यागी थे ही जो दीर्घकाल तक निश्चल बैठे या खड़े रहते थे, परंतु मन को निश्चल करने का कोई अभ्यास नहीं करते थे। अतः उनका लक्ष्य सिद्ध नहीं हो पाता था। बुद्ध-शासन को पूरा कर लेना ही साधक का लक्ष्य होता है। यही परम साध्य अवस्था है। इसीलिए कहा गया है –

करोथ बुद्धसासनं, यं कत्वा नानुतप्पति।

– बुद्ध-शासन अर्थात बुद्ध की शिक्षा के पालन को पूरा करें, जिसे पूरा करने पर सारे संताप दूर हो जाते हैं,

क्योंकि साधक निर्वाण अवस्था को प्राप्त कर शीतलीभूत हो जाता है।

इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए –

खिप्पं पादानि धोवित्वा, एकमन्ते निसीदथ।

– शीघ्र पांव धोकर अकेली साधना में बैठ जा।

एकमन्ते निसीदथ का लक्ष्य **करोथ बुद्धसासनं** ही है, जो परम मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेना है। (थेरीगा० १३, विसाखाथेरीगाथा)

उत्तमा थेरी

श्रावस्ती के एक धनाढ्य सेठ की पुत्री और पटाचारा की शिष्या थी उत्तमा। प्रव्रजित होकर, साधना की विद्या सीख कर कुछ एक कठिनाइयों में से गुजरने के बाद जो ध्यान में बैठी, तो मुक्त होकर ही आसन से उठी।

सत्ताहं एकपल्लङ्केन, निसीदिं पीतिसुखसमप्पिता।

– पूरे एक सप्ताह तक एक ही आसन पर बैठ कर साधना की ऊंची अवस्थाओं का प्रीति सुख (आनंद) अनुभव करती रही और –

अट्ठमिया पादे पसारेसिं – आठवें दिन जब आसन-मुक्त हो मैंने पांव पसारे, तब –

तमोखन्धं पदालियाति। (थेरीगा० ४४, उत्तमाथेरीगाथा)

– अज्ञान का अंधकार समुच्छिन्न हो चुका था, परम मुक्त अवस्था प्राप्त हो चुकी थी।

ऐसे ही सफल अधिष्ठान में बैठने का एक और उदाहरण –

विजया थेरी

राजगृह के धनी, कुलीन घर में जन्मी विजया महारानी खेमा की प्रिय सहेली थी। खेमा के प्रव्रजित होने पर वह भी प्रव्रजित हुई और खेमा से ही साधना विधि सीख कर, कुछ दिनों कठिनाइयों में से गुजरने के बाद, एक बार अधिष्ठान में बैठी, तो सात दिन पूरे होने पर मुक्त हो कर ही उठी। उसके उद्गार थे –

पीतिसुखेन च कायं, फरित्वा विहरिं तदा।

– साधना में बैठे-बैठे मेरी सारी काया में प्रीति सुख की स्फुरणा आप्लावित हो गयी, व्याप्त हो गयी।

पर वह आसन से नहीं उठी।

सत्तमिया पादे पसारेसिं, तमोखन्धं पदालियाति।

(थेरीगा० १७८, विजयाथेरीगाथा)

– सातवें दिन जब मैंने आसन बदल कर पांव पसारे, तब तक मेरा सारा अज्ञानांधकार विदीर्ण हो चुका था।

इस प्रकार विजया थेरी का लंबे अधिष्ठान में बैठना परम फलदायी हुआ।

तीनों संस्कार निरुद्ध

साधना की सफलता इस बात में है कि निरोध समापत्ति द्वारा इंद्रियातीत निर्वाण का साक्षात्कार हो जाय। निरोध समापत्ति की अवस्था में सभी संस्कार निरुद्ध हो जाते हैं।

क्या हैं ये संस्कार?

तयोमे, आवुसो विसाख, सङ्खारा – कायसङ्खारो, वचीसङ्खारो, चित्तसङ्खारो।

– हे आयुष्मान विशाख, कर्म-संस्कार तीन होते हैं – कायिक संस्कार, वाचिक संस्कार और चित्त संस्कार।

क्या है कायिक संस्कार?

अस्सासपस्सासा खो, आवुसो विसाख, कायसङ्खारो – ये जो आश्वास-प्रश्वास हैं, यही काय संस्कार है।

क्या है वाचिक संस्कार?

वितक्कविचारा वचीसङ्खारो – यह जो वितर्क-विचार हैं, यही वाचिक संस्कार है।

और क्या है चित्त संस्कार?

सञ्ञा च वेदना च चित्तसङ्खारो – यह जो संज्ञा और वेदना है, यही चित्त संस्कार है।

साधक की साधना का परम लक्ष्य इन तीनों संस्कारों का निरोध है।

विपश्यना साधना की गहराइयों में उतरने वाला साधक खूब समझने लगता है कि कायिक कर्म-संस्कारों को निरुद्ध करने के लिए केवल संकेतों और इशारों के पारस्परिक संवाद को रोक कर कायिक मौन प्राप्त कर लेना ही पर्याप्त नहीं है। अथवा उससे आगे बढ़ कर बिना हिले-डुले एक निश्चित समय तक अधिष्ठान लेकर एक आसन में अचल, अडोल बैठ जाना और इस प्रकार काया का मौन साध लेना ही पर्याप्त नहीं है। काया का एक और कर्म सूक्ष्म स्तर पर अबाध गति से निरंतर चलता रहता है और वह है – श्वास का आवागमन। जब यह रुक जाता है, तभी वस्तुतः कायिक संस्कार का निरोध होता है।

इसी प्रकार वाणी से मौन साध लेने मात्र से वाचिक कर्म-संस्कार का निरोध नहीं होता। वाचिक कर्म-संस्कार की उत्पत्ति मन में होती है। पहले मन में वितर्क- विचार उठते हैं, तत्पश्चात वाणी में प्रकट होते हैं। अतः सही माने में वाणी के कर्म-संस्कार का निरोध तब होता है, जब वितर्क, विचार विहीन समाधि लग जाती है।

इसी प्रकार मन को वितर्क-विचार विहीन कर मन का मौन साध लेने मात्र को मन यानी चित्त के कर्म-संस्कार का निरोध नहीं कहते। वितर्क-विचार रुक जाने के पश्चात भी चित्त में संज्ञा और वेदना का कर्म-संस्कार बनता रहता है। **नेवसञ्ञानासञ्ञायतन** नामक आठवें ध्यान की समापत्ति पर भी चित्त काम करता रहता है। भले बहुत सूक्ष्म अवस्था में काम करता है; क्योंकि संज्ञा अभी कायम है, यद्यपि बहुत दुर्बल हो गयी है और मनोमय वेदना भी कायम है, क्योंकि इसका अनुभव हो रहा है। इस संज्ञा और वेदना के रहते चित्त कर्म-संस्कार का निरोध नहीं माना जाता। अतः जब **सञ्ञावेदयितनिरोधसमापत्ति** की अवस्था आती है, अर्थात साधक की संज्ञा और वेदना भी निरुद्ध हो जाती है, तब चित्त के कर्म- संस्कार का निरोध होता है। **सञ्ञावेदयितनिरोध** की समापत्ति ही अंतिम मुक्त अवस्था है, अरहंत फल प्राप्ति की निर्वाणिक अवस्था है। **सञ्ञावेदयितनिरोध** अवस्था तक पहुँचने के लिए कर्म-संस्कार निरोध इस क्रम से संपन्न होते हैं –

सञ्ञावेदयितनिरोधं समापज्जन्तस्स खो, आवुसो विसाख, भिक्खुनो,

– हे आयुष्मान विशाख, **सञ्ञावेदयितनिरोधसमापन्न** हुए भिक्षु को-

पठमं निरुज्झति वचीसङ्खारो,

– पहले वाचिक संस्कार का निरोध होता है, यानी अवितर्क, अविचार अवस्था प्राप्त होती है।

ततो कायसङ्खारो।

– फिर काय संस्कार का निरोध होता है, यानी उसके आश्वास-प्रश्वास बिल्कुल रुक जाते हैं।

ततो चित्तसङ्खारो – फिर चित्त-संस्कार का निरोध होता है, यानी संज्ञा और वेदना का निरोध होता है; चित्त का ही निरोध हो जाता है।

यही **सञ्ञावेदयितनिरोध** अवस्था है। निरोध का यही क्रम है।

(म० नि० १.४६३-४६४, चूळवेदल्लसुत्त)

भगवान बुद्ध स्वयं इसी क्रम से परम मुक्त अवस्था तक पहुँचे थे। वे अपने शिष्यों को भी इसी प्रकार मुक्त अवस्था तक पहुँचने की शिक्षा देते थे।

स्थविर वल्लिय

इस अवस्था की ओर बढ़ने के लिए आर्य मौन का प्राथमिक कदम उठाना आवश्यक है। आर्य मौन का आरंभ वाणी के मौन से होता है। इसीलिए भगवान की शिक्षा में वाणी के मौन को इतना महत्त्व दिया गया है। इसी कारण वैशाली के ब्राह्मण कुल से प्रव्रजित हुए स्थविर वल्लिय ने साधना-संबंधी अपना दृढ़ संकल्प प्रकट करते हुए कहा –

अहं मोनेन मोनिस्सं, गङ्गासोतोव सागरं। (थेरगा० १६८, वल्लियत्थेरगाथा)

– मैं मौन रह कर मुक्त अवस्था तक उसी प्रकार जा पहुँचूंगा, जैसे गंगा की धारा सागर तक पहुँचती है।

आनंद

वाणी का मौन रख कर साधना किए बिना किसी को सफलता नहीं मिल सकती, चाहे वह भगवान की श्रद्धापूर्वक सेवा करने वाला भिक्षु

आनंद ही क्यों न हो। भिक्षु आनंद भगवान की सेवा में बहुत व्यस्त रहते थे। अतः साधना करके अरहंत अवस्था तक नहीं पहुँच पाये थे। स्रोतापन्न ही थे। भगवान के महापरिनिर्वाण के पश्चात उन्हें परम मुक्त अवस्था प्राप्त करनी थी। वे बहुश्रुत थे, बहुस्मृतिमान थे, कुशल धर्मोपदेशक थे। अतः उनको बहुत बोलना पड़ता था। बहुभाषी मुक्त अवस्था कैसे प्राप्त कर पायेगा? उनकी ऐसी चिंत्य अवस्था देख कर अरहंत वज्जिपुत्त ने भिक्षु आनंद को चेतावनी के कुछ कठोर शब्द कहे, जिनसे संवेग प्राप्त कर वे मौन होकर उद्योग में लग गये और परम मुक्त हुए। चेतावनी के शब्द ये थे –

रुक्खमूलगहनं पसक्किय – गहरी छाया वाले वृक्ष मूल के पास

निब्बानं हदयस्मिं ओपिय – हृदय में निर्वाण की शांति धारण करके

झाय गोतम – हे आनंद, गौतम ध्यान (विपश्यना साधना) करो।

मा च पमादो – प्रमाद मत करो।

किं ते बिळिबिळिका करिस्सति। (थेरगा० ११९, वज्जिपुत्तत्थेरगाथा)

– यह बड़बड़ाना यानी प्रवचन देते रहना तुम्हारा क्या भला करेगा? सचमुच भला तो मौन रह कर ध्यान करने से ही होगा, चाहे कोई भगवान बुद्ध का आजीवन श्रद्धालु सेवक ही क्यों न रहा हो।

गंगातीरिय

दृढ़ संकल्प द्वारा मौन का पालन करते हुए मुक्त अवस्था तक पहुँच जाने वाले साधकों में स्थविर गंगातीरिय अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। वे श्रावस्ती के दत्त नामक कुल- पुत्र थे। प्रव्रजित होकर गंगा के तीर पर रहने लगे। अतः गंगातीरिय नाम पड़ गया। वे मौन का व्रत लेकर साधना में लग गये। एक उपासिका उन्हें नित्य श्रद्धापूर्वक भोजन-दान देती थी। एक दिन उसके मन में जिज्ञासा जागी कि क्या यह भिक्षु गूंगा है या इसने मौन व्रत ले रखा है। अतः उसने इतना अधिक दूध परोसा कि थोड़ा सा छलक कर भिक्षु के शरीर पर गिर गया। भिक्षु के मुँह से निकल गया – बस। कालांतर में इसे ही लक्ष्य करके स्थविर गंगातीरिय ने कहा –

द्विन्नं अन्तरवस्सानं – दो वर्षों के बीच

एका वाचा मे भासिता – मैंने केवल एक ही शब्द कहा।

ततिये अन्तरवस्सम्हि – तीसरे वर्ष में –

तमोखन्धो पदालितो – अज्ञान की अंधकार- राशि को उच्छिन्न कर लिया। (थेरगा० १२८, गङ्गातीरियत्थेरगाथा)

अर्थात परम मुक्त निर्वाणिक अवस्था प्राप्त कर ली।

(क्रमशः)